श्री परशुरामजी

श्री भागवत-दर्शन :–

भागवती कथा

[बत्तीसवाँ खण्ड]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

तृतीय संस्करण
१००० }

मार्गशीर्ष
सम्वत् २०२७

संशोधित मूल्य २-० रुपए
{ मूल्य १.६५

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
१—चन्द्रवंश-वर्णन ...	१
२—चन्द्रदेव का अनुचित कार्य ...	७
३—चन्द्रपुत्र बुध ...	१५
४—बुधपुत्र पुरूरवा ...	२१
५—पुरूरवा और उर्वशी ...	३७
६—उर्वशी का पुरूरवा से साक्षात्कार ...	५१
७—उर्वशी पुरूरवा की पत्नी बनी ...	५९
८—उर्वशी का वियोग ...	६५
९—उर्वशी के विरह में विक्षिप्त महाराज ऐल ...	७१
१०—ऐल और उर्वशी का पुनर्मिलन ...	७९
११—त्रयी विद्या का प्रादुर्भाव ...	९१
१२—पुरूरवा को गन्धर्व लोक की प्राप्ति ...	१००
१३—महाराज ऐल का विषयों से विराग ...	१०५
१४—महाराज ऐल की मुक्ति ...	११३
—महाराज जह्नु की कथा ...	१२०
—कुशनाभ-चरित ...	१३०
- सत्यवती-पति महर्षि ऋचीक ...	१४१
माता और पुत्री के चरु में विपर्यय ...	१५०
परशुराम-अवतार ...	१५७
श्री परशुराम की पितृ भक्ति ...	१६८
हयराज सहस्रार्जुन ...	१७७

२२—सहस्रार्जुन और परशुराम-पिता जमदग्नि ... १८६
२३—परशुरामजी द्वारा कार्तवीर्य का वध १६७
२४—पिताकी आज्ञा से परशुरामजी का प्रायश्चित २०४
२५—परशुरामजी के पिता का निर्मम वध ... २११
२६—परशुरामजी द्वारा २१ बार क्षत्रियों का विनाश २१८
२७—प्रशान्त परशुराम जी २२५
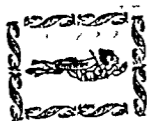
चन्द्रवंश-वर्णन

[७१८]

अथातः श्रूयतां राजन् वंशः सोमस्य पावनः ।
यस्मिन्नैलादयो भूपाः कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्तयः ॥ *

(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० १ श्लोक)

छप्पय

कहैं सूत—"अब प्रथम शीश शुक चरननि नाऊँ ।
तब अति पावन चन्द्र-वंश की कथा सुनाऊँ ॥
नारायण के नाभि-कमल तैं अज चतुरानन ।
प्रकटे तिन के पुत्र अत्रि कुल जिनको पावन ॥
चन्द्र तनय तिनके भये,—अति तेजस्वी तपस्वी ।
राजसूय करि दिग्विजय, भये जगतमहँ यशस्वी ॥

एक बीज से बहुत-से बीज उत्पन्न होते है और उन सब बीजो में से प्रत्येक बीज में भी उतने ही बीज उत्पन्न करने की शक्ति होती है । यह बात नही है कि एक बीज से १०० बीज उत्पन्न हुए, तो वह शक्ति १०० स्थानो में बंट जाय । शक्ति सर्वत्र परिपूर्ण है । एक अग्नि की चिनगारी से बहुत सी अग्नि हो गई ।

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अब मैं तुम्हे उस चन्द्रमा के पावन वंश का वर्णन सुनाता हूँ, जिस वंश में ऐल आदि पुण्य कीर्ति वाले राजाओं के वंश का कीर्तन किया गया है ॥"

उससे उत्पन्न प्रत्येक चिनगारी मे उतनी ही शक्ति है। एक दीपक से सहस्र दीपक जलाये गये। उन जले हुए दीपकों में से प्रत्येक मे सहस्रो दीपकों को जलाने की शक्ति विद्यमान् है। शक्ति अनादि है, उसकी उत्पत्ति नही, नाश नही। काल, कर्म और गुणो के सम्बन्ध मे केवल आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं। किस बीज से कौन बीज उत्पन्न हुआ—किस जल-तरग से कौन सी तरङ्ग उत्पन्न हुई—इसका निर्णय कठिन है। यह ससारप्रवाह अनादि है। सदा से यह चला आ रहा है और इसी प्रकार सदा चलता रहेगा। केवल उपचार से यह कहा जाता है—इससे यह उत्पन्न हुआ और इससे यह। ये सब नारायण से उत्पन्न हैं और नारायण मे ही विलीन हो जाते हैं। तरंग बुद्बुद, फेन—ये सब जल से ही उत्पन्न होते हैं। जल के बिना इनका अस्तित्व नही। अतः जल ही मुख्य है, वही अग्रो है, शेष, सब उसके अग्रमात्र हैं, अग्रज हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् को जब क्रीडा करने की इच्छा होती है, तब वे सृष्टि देखने की इच्छा करते हैं, यों स्वतः ही सृष्टि हो जाती है, जैसे हम स्वत. स्वास-प्रश्वास लेते रहते हैं। भगवान् अपने तीन रूप धारण कर लेते है। अपनी नाभि के कमल से कमलासन ब्रह्मा को प्रकट करते हैं, ब्रह्माजी की भृकुटो से रुद्रदेव उत्पन्न होते है और स्वय चतुर्भुज रूप रख कर विष्णु बन जाते हैं। ब्रह्मा सृष्टि को बढ़ाने का कार्य करते हैं, विष्णु बढी हुई सृष्टि का पालन करते हैं और रुद्र उन सबका सहार करते हैं। जितना ही सुख उन्हे सृजन मे होता है, उतना ही सहार मे भी। बच्चो को जितना ही सुख खिलौने के पाने मे होता है, उतना ही उसे फट्ट से फोडने मे, न सृजन उनके लिये सुखद है और सहार दुःखद। मनु-प्रजापति रूप मे ब्रह्माजी सृष्टि करते

हैं। काल, मृत्यु, आधि, व्याधि रूप से शिव उसका संहार करते हैं और कल्पावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार, अंशावतार आदि रूपो से वे ही हरि बढ़ी हुई सृष्टि का पालन करते हैं। जो परात्पर प्रभु हैं, वे सृजन, रक्षण और सहार—इन तीनों से पृथक् रह कर नित्य दिव्य रस का आस्वादन करते रहते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, मनु, प्रजापति, इन्द्र वरुण, कुबेर, यम, या अन्यान्य अधिकारीगण अधिकारारूढ होकर सृष्टि के कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं। इन्हें इन कार्यों से कोई प्रयोजन नही। वे अपनी आद्याशक्ति के साथ निरन्तर विहार करते रहते हैं। कभी-कभी वे इस अवनि को परम पावन बनाने के निमित्त अपने समस्त परिकर के साथ अपने निज धाम में प्रकट लीला करके जीवों को दिव्य सुख का रसास्वादन कराते हैं। रसास्वादन कराने का उनका संकल्प नही, न वे उस हेतु से अवनि पर अवतरित ही होते हैं। यह लीला तो अनुसगिक होती है। स्वयं ही रमण करने, अपने जनों को रमण कराने, वे कुछ काल प्रकट लीला कराते हैं। जैसे बडे नगर में से महस्रों छोटे-बडे जल के स्रोत निकलते है, वैसे ही इन परात्पर पूर्ण ब्रह्म से असंख्यों अवतार उत्पन्न होते हैं। जिस कल्प में यह अवतार हो जाता है, वह अन्य कल्पो से अत्यन्त सौभाग्यशाली होता है। जिस ब्रह्मा के समय में यह अवतार-अवतरित होता है, ब्रह्मा कृतार्थ हो जाते हैं। जिस कुल में यह परात्पर प्रभु प्रकट होते हैं; वह कुल परम पावन बन जाता है।

ब्रह्माजी के इस श्वेतवाराह नामक कल्प के अठाईसवें कलियुग मे यह परात्पर प्रभु प्रकट हुए। इनके प्रकट होने का कोई समय निश्चित नही, क्योंकि कोई भी इनके यथार्थ मर्म को नही जानते। भूत, भविष्य और वर्तमान की बातें वेदो से ही जानी

जाती हैं किन्तु वेद भी इनके भेद को नहीं जान सकते। वे भी 'नेतिनेति' कह कर मौन धारण कर लेते है। यह भी बात नहीं कि यह पूर्ण पुरुष जहाँ-तहाँ उत्पन्न हो जाय। परम स्वतन्त्र होने पर भी वह व्रज की सीमा मे बँधा है। प्रकट या अप्रकट, जो भी लीला करेगा, व्रज मे ही करेगा। वृन्दावन को छोडकर वह एक पैर भी न जायेगा। इस अवतरण मे सोमवंश को इन्होंने निमित्त बनाया। इस पुण्य कीर्ति-कुल मे अवतरित होकर इन्होंने इस पावन कुल को और भी अधिक पावन बना दिया। इसीलिये इस कुल के सभी भूपति पुण्यश्लोक माने गये हैं। अब हम उसी कुल का वर्णन करेंगे।

भगवान् के नाभि-कमल से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, यह कथा तो अनेकों बार कही गई है। उसकी पुनरुक्ति हम यहाँ नहीं करते, ब्रह्माजी के दस मानस-पुत्र हुए, जिनमे भगवान् अत्रि भी उत्पन्न हुए। अत्रि मुनि का विवाह प्रजापति भगवान् कर्दम की पुत्री अनसूया के साथ हुआ। अनसूया बडी ही पतिव्रता स्त्री थी। उन्होंने अपने तप के प्रभाव से तीनों देवों को वश मे कर लिया था, जिस का वर्णन पूर्व मे कर चुके हैं। तीनों देव भगवान् अत्रि के तप से प्रसन्न होकर, अपने-अपने अंश से इनके यहाँ पुत्र रूप मे उत्पन्न हुए, यह कथा भी हम कह चुके हैं। महर्षि अत्रि के यहाँ भगवान् विष्णु के अंश से दत्तात्रेय का जन्म हुआ, शिवजी के अंश से दुर्वासा और ब्रह्माजी के अंश से चन्द्रमा उत्पन्न हुए। ये ही चन्द्रमा चन्द्रवंश के आदि पुरुष माने जाते हैं, इन्हीं के नाम से यह वंश विख्यात हुआ। अत्रि पुत्र चन्द्र ही इस वंश के संस्थापक हुए।

यह सुनकर शौनक जी बोले—'सूतजी! हमने तो सुना है कि चन्द्रमा भगवान् के मन से उत्पन्न हुए और कहीं-कहीं सुना है

कि उनकी उत्पत्ति समुद्र से हुई। अब आप इन्हें अत्रि का पुत्र बता रहे है यह क्या बात है ? कृपा करके हमारी इस शंका का समाधान कीजिये।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! ये सूर्य-चन्द्र आदि तो नित्य हैं। इनका तो कभी नाश होता ही नही। प्रलय के समय ये अव्यक्त मे विलीन हो जाते हैं। जब कल्प का अन्त होता है, सृष्टि का क्रम आरम्भ होता है, तब धाता इन्हे पहिले की भाँति प्रकट करते हैं, इन्हे अपने पद पर पुन: प्रतिष्ठित करते हैं। प्रलय मे ये भगवान् के हृदय-देश मे वास करते हैं और सृजन के समय ये उनके मन से ही उत्पन्न होते हैं, अत: इन्हे मन से उत्पन्न हुआ बताते हैं।"

इसी प्रकार जब दुर्वासा के शाप से तीनो लोको की श्री नष्ट हो गई, तब ये भी श्री हीन हो गये, क्योंकि ये सब से अधिक श्री सम्पन्न थे और जब समुद्र से श्री के सहित सभी अलौकिक श्री वाले चतुर्दश रत्न मथ कर निकाले गये, तब ये भी श्री सम्पन्न होकर समुद्र से निकले। इसीलिये इन्हे श्री का भाई होने से ये जगत् के मामा करके विख्यात हैं। छोटे-छोटे बच्चे चन्दा को मामा मानकर कहा करते हैं, "चन्दा मामा ऊलरे भरी छबरिया फूल के।" ये उनके आध्यात्मिक और आधिदैविक रूप हैं। सूर्य और चन्द्रमा को विराट भगवान् के दोनो नेत्र बताये हैं। वे ही चन्द्रमा जब आदिभौतिक दृष्टि मे अवतार लेते हैं, अत्रि मुनि के यहाँ अवतरित होते हैं, तब सभी मानवीय लीला करते हैं। देवताओ का-सा दिव्य रूप धारण कर सभी पुण्य-पाप से कार्य करते हैं। अत: मन से उत्पन्न चन्द्र मे, समुद्र से उत्पन्न चन्द्र मे तथा अत्रि-पुत्र चन्द्र में तत्वत: कोई भेद नही। एक ही ये देश-काल के भेद से अनेक रूप रख लेते हैं। इन चन्द्र का विवाह

दक्ष-प्रजापति की २७ कन्याओं के साथ हुआ। इनके विवाह होने से पूर्व ही चन्द्रमा के वीर्य से एक बडा ही बुद्धिमान पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम बुध हुआ। वह अन्य क्षेत्रज था। लडाई-झगड़े मे इन्हे प्राप्त हुआ।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—सूतजी! भगवान् बुध किस के क्षेत्र मे उत्पन्न हुए? इनके पीछे लडाई-झगड़ा क्यो हुआ? कृपा कर इस कथा को हमे विस्तार से सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अजी महाराज! रहने भी दो। बडे लोगो की बड़ी ही बातें होती हैं। छोटे कुछ गड़बड़-सडबड़ करें तो सभी उन्हें बुरा भला कहेंगे, सभी थूकेंगे, किन्तु, बड़े जो कर दे वही ठीक। उनकी ओर कोई ऊँगली नही उठाता। ये ऐसी बातें हैं कि मुझे कहने मे भी सकोच लगता है, किन्तु कथा प्रसग को तो पूरा करना ही है। कागज का पेट तो भरना ही है। वश विस्तार को तो बताना ही है। अतः इस कथा को मैं अत्यन्त ही सक्षेप मे कहूँगा। आप ध्यान पूर्वक श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

यौवन, धन, सम्पत्ति और प्रभुता जग माँही।
होवे यदि अविवेक सहित तो फल शुभ नाँही॥
यौवन तें उन्माद, मान धन तें है जावे।
सम्पति प्रभुता पाइ सबनिकूँ कुटिल सतावे॥
सुन्दरता की ठसक महँ, सोम कार्य अनुचित करयो।
यौवन-मद ऐश्वर्य ने, सब विवेक तिनिको हरयो॥

चन्द्रदेव का अनुचित कार्य

[७१६]

सोऽयजद् राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम् ।
पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात् तारां नामाहरद्बलात् ॥❀
(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

अत्रि-तनय अद्वितीय सुघर अतिशय त्रिभुवन महँ ।
लखें उनहिँ जे नारि, काम प्रकटै तिनि मन महँ ॥
रूप निरखि आसक्त भईं मुनि पत्नी सबहीं ।
निज-निज पति तजि गईं समुझि सोमहिँ सरबसहीं ॥
अति साहस तब सोम को, बढ्यो पाप मनमहँ घँस्यो ।
तारा गुरु-पत्नी हरी, रूप परस्पर चित चस्यो ॥

पाप या पुण्य करते-करते मनुष्य का साहस बढ जाता है। साफल्यमण्डल तथा आशा, सफलता के प्रधान कारण हैं। यदि कोई काम मनुष्य करता है और उसमें उसे सफलता होती है, तो उसका साहस अधिक बढ जाता है। यदि प्रवृत्ति अनुचित

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! चन्द्रदेव न त्रिलोकी को जीत कर राजसूय यज्ञ द्वारा भगवान् का यजन किया और ऐश्वर्य के अभिमान में भरकर देवगुरु बृहस्पति की पत्नी तारा का बलपूर्वक हरण किया।"

कार्य मे है, तो ऐसे अनुचित कार्य मनुष्य करेगा कि दुस्साहस पराकाष्ठा पर पहुँच जायगा। चाहे बड़े आदमी करें, चाहे छोटे, बुरे काम तो बुरे ही हैं। फिर भी समरथ के दोषों को लोग छिपाते हैं, उनकी सामर्थ्य के आगे बडे से बड़े अनुचित कार्य दब जाते हैं, सामर्थ्यवान् प्रभावशाली पुरुषों के दूषण भी भूषण हो जाते हैं। एक बडा सद्‌गुण छोटे-छोटे कितने दुर्गुणों को दबा देता है और एक बडा दुर्गुण छोटे-मोटे सभी सद्‌गुणों को छिपा देता है। बड़े लोगो के दोषों को विचारना बड़ा अप राध है। दोष तो किसी के ही नही देखना चाहिये। देखने ही हों तो अपने मन के दोष देखे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने पूछा, चन्द्रदेव के वीर्य से बुध किसके क्षेत्र मे उत्पन्न हुए। मै आपको यह कथा सुनाता हूँ, आप ध्यान पूर्वक इसे सुनें।"

अत्रि-पुत्र भगवान् चन्द्र, ब्रह्मा के अंश से उत्पन्न होने के कारण, बडे ही सुन्दर थे। ससार में उन दिनों उनसे अधिक सुन्दर कोई भी नहीं था। फिर सोने में सुहागे का काम उनके तप ने किया। वे जन्मते ही तपस्या करने चले गये। वन में जाकर सहस्रों वर्ष-पर्यन्त वे घोर तप करते रहे। उनकी उग्र तपस्या से लोक-पितामह ब्रह्माजी परम प्रसन्न हुए। इन्होने उन्हें समस्त ताराओ, ब्राह्मणों तथा औषधियों का राजा बना दिया। समस्त औषधियो में अमृत का सचार सोम ही करते है। सोम न हों, तो कोई भी औषधि फलवती न हो। सोम सब ब्राह्मणो के राजा हैं। समस्त तारागण उन्हीं के अधीन हैं। इस प्रकार तीनो लोकों के प्राणदाता सोम ही हैं। जब चन्द्रदेव को इतना बड़ा पद प्राप्त हो गया, तब तो उनकी शोभा अत्यन्त बढ़ गई। सभी देव उनके सम्मुख निष्प्रभ दिखाई देने

लगे। वे सौन्दर्य में सभी से श्रेष्ठ थे। जितने वे सुन्दर थे, उतना सुन्दर कोई मनुष्य तो क्या, देवता, गन्धर्व, सिद्ध या ऋषि-मुनि भी नही थे। उनका तप उग्रतम था। वे बिलकुल तरुण थे। अभी विवाह भी नहीं हुआ था। उनके ऐश्वर्य का तो कोई ठिकाना ही नही था। ब्रह्मा जी ने उन्हें जगद्गुरु ब्राह्मणों का भी राजा बना दिया था। सबको जीवन-दान देने वाली औषधियो के भी व स्वामी थे। फिर उनके प्रभुत्व के सम्बन्ध मे तो पूछना ही क्या ? उनके सौन्दर्य पर स्त्रियाँ लट्टू थी और उनके सकेत पर नाचने को प्रस्तुत थी। जैसे सूतली मे बँधी कबूतरी स्वेच्छानुसार उड़कर इधर-उधर नही जा सकती उसी प्रकार स्त्रियाँ भी उनके अपार सौन्दर्य जाल मे फँसकर, उन्हे छोड अन्यत्र जाना नही चाहती थी।

ऐश्वर्य पाकर चन्द्र ने एक ऐसा राजसूय यज्ञ किया जैसा उनके पूर्व किसी ने भी न किया था। इस यज्ञ को वही कर सकता था, जो तीनों लोक दिग्विजय कर ले। इन्होने त्रिभुवन को जीत कर अत्यन्त ऐश्वर्यशाली महान् यज्ञ किया। इस यज्ञ में समस्त देवता, ऋषि-मुनि अपनी-अपनी पत्नियों के साथ, पधारे थे। ऋषि-मुनि आये तो थे दान-मान-सम्मान लेने, किन्तु यहाँ उन्हे लेने के देने पड गये। उन सब की पत्नियाँ चन्द्रमा के ऐश्वययुक्त सौन्दर्य को देखकर उन पर मुग्ध हो गईं। अब वे अपने पतियो के साथ जाना ही नही चाहती थी।

किसी को भी अपने गुणों का यथार्थ ज्ञान तभी होता है, जब दूसरे उसके उन गुणो के प्रशसक हो, दूसरे उन पर विमुग्ध हो जायँ। चन्द्रमा ने जब देखा कि मेरे सौन्दर्य में तो बड़ा भारी आकर्पण है, तब तो उन्हे अपने सौन्दर्य पर अत्यधिक अभिमान हो गया। वे उस अभिमान मे भर कर ऐसे अनुचित कार्य करने

लगे कि जिनका वर्णन करना अनुचित ही नहीं, अपराध भी है।

एक बार वे देवगुरु बृहस्पति के घर गये। वहाँ उन्होंने गुरु-पत्नी तारा को देखा। उसके रूप-लावण्य को देखकर चन्द्रमा आपे में नहीं रहे। सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य के अभिमान ने उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी। उनका चित्त गुरुपत्नी पर चञ्चल हो गया। तारा का सौन्दर्य उनके मन में बस गया। अवसर पाकर वे तारा को एक दिन बल पूर्वक पकड़कर अपने महल में ले आये। बृहस्पति जी राजसूय में उनके अनुपम ऐश्वर्य को देख ही चुके थे। अतः उन्हे शाप देने का भी साहस न हुआ। अनुनय-विनय करके वे चन्द्र के चंगुल से अपनी पत्नी को छुड़ाना चाहते थे, किन्तु चन्द्र समझाने-बुझाने से मानने वाले नहीं थे, उन्हें किसी का भय तो था नही! यौवन, धन, सम्पत्ति और प्रभुत्व के अभिमान ने उनके विवेक को नष्ट कर दिया था। वे उचित-अनुचित का विवेचन विवेक पूर्वक नही कर सक्ते थे।

बृहस्पतिजी ने किसी भी प्रकार अपना मनोरथ पूर्ण होते नहीं देखा। समझाने से चन्द्र उन्हें और भी निर्बल समझता था। अतः उन्होंने देखा कि साम से काम न चलेगा, अब तो दण्ड का आश्रय लेना ही पड़ेगा। युद्ध में चन्द्र को परास्त करके ही वे अपनी प्यारी पत्नी को प्राप्त कर सकेंगे! ऐसा सोचकर उन्होंने देवराज इन्द्र से कहा—"देखो भाई! स्वर्ग के राजा तुम हो। त्रिलोकेश तुम्हारा ही नाम है। यह चन्द्रमा अपने ऐश्वर्य के अभिमान में किसी को कुछ समझता ही नही। मेरी पत्नी को बल पूर्वक हरण कर ले गया है। अब तो इसके गर्व को खर्व करना ही चाहिये। जब तक युद्ध में यह परास्त न किया जायगा, इसकी बुद्धि ठिकाने न आवेगी। इसलिये इसे जैसे हो, परास्त करो।"

इन्द्र ने अत्यन्त ही क्रोध के साथ कहा—"गुरुदेव! चन्द्रमा

ने यह महापाप ही नहीं किया है, हम सब का घोर अपमान भी किया है। हम इसे किसी प्रकार भी क्षमा न करेंगे। हम अपने बाहुबल से उसे परास्त कर भगवती तारा को लावेंगे। आप चिन्ता न करें, हम अभी युद्ध की तैयारी करते हैं।" यह कहकर देवराज ने समस्त देवताओं को युद्ध के लिये तैयार हो जाने की आज्ञा दी।

इधर, जब सुरगुरु बृहस्पति के प्रतिद्वन्द्वी असुर-गुरु शुक्राचार्य ने यह समाचार सुना, तब उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। (अपने शत्रु की हानि सुनकर चित्त में एक प्रकार का संतोष-सा होता है और हानि करने वाले की ओर स्वाभाविक अनुराग हो जाता है।) शुक्राचार्य दौड़े-दौड़े चन्द्रमा के पास गये और बोले—"देखो, चन्द्रदेव! तुमने जो भी उचित-अनुचित किया है, उस पर अड़े रहना। बृहस्पति की बन्दरघुड़की में मत आना। इन देवताओं को तो तुम जानते ही हो! ये तो सबके सब नपुंसक हैं। असुर जब चाहते हैं, इन्हें मार भगाते हैं। सदा इनकी पराजय ही होती है। ये सदा पराजित होकर विष्णु का आश्रय ग्रहण करते हैं। बृहस्पति तुम्हें किसी प्रकार जीत नहीं सकते। तुम युद्ध से तनिक भी मत डरना। हम तुम्हारे साथ हैं। मेरे समस्त असुर-शिष्य प्राणों की बाजी लगाकर तुम्हारे लिए रक्त बहाने को तत्पर हैं।"

यह सुनकर चन्द्रमा का साहस और भी अधिक बढ़ गया पहिले तो वह डर गया था, किन्तु, शुक्राचार्य का आश्वासन पाकर उसने कहा—"भगवन्! यदि आप मेरे साथ हैं, तो मैं कभी भी किसी से डरने वाला नहीं। एक नहीं, हजार बृहस्पति भी चाहे क्यों न आ जायँ, मैं तारा को कभी दे नहीं सकता। आप मेरे ऊपर कृपा बनाये रखें। देवता युद्ध की तैयारियाँ कर चुके

हैं, आप भी युद्ध के लिए असुरों को सुसज्जित करके लाइये।" यह सुनकर शुक्राचार्य ने कहा,—"राजन्! आप चिन्ता न करें। मैं अपने असुर और दानव, सभी शिष्यों को साथ लेकर युद्ध के लिये आता हूँ।" यह कहकर शुक्राचार्य ने असुरों को उत्साहित किया। असुर तो सब शुक्राचार्य के अधीन ही थे। उनकी आज्ञा पाकर वे सब के सब युद्ध के लिये शस्त्र-सज्जित होकर देवताओं से लडने समरभूमि मे आ डटे।

इधर, जब भगवान् शकर ने यह समाचार सुना, तब उन्हें भी बडा बुरा लगा। बृहस्पति के पिता, भगवान् अङ्गिरा, से शिवजी ने विद्या पढी थी। इस नाते वे उनके गुरु भाई थे। अत वे भी अपने भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, साकिनी, भैरव-वेताल, आदि गण लेकर बृहस्पतिजी की ओर से युद्ध करने समर मे आ डटे। इस युद्ध की सर्वत्र चर्चा फैल गई। असुर और सुरों ने ऐसी तैयारियाँ की, जैसी पहिले किसी भी युद्ध के लिये नही की थी। जब लोक पितामह ब्रह्माजी को यह समाचार विदित हुआ, वे शीघ्रता से हंस पर चढकर रण भूमि मे आये। दोनो ही सेनायें समर के लिये सर्वथा तैयार ही थी। क्षण भर मे युद्ध आरम्भ होने ही वाला था कि बीच मे आकर ब्रह्माजी ने कहा—"ठहरो।"

अब कोई प्रहार कैसे कर सकता था। ब्रह्मा जी तो सब के बाबा ठहरे। सुर-असुर सभी उनके अधीन हैं। सभी उनका समान भाव से आदर करते हैं। बूढे बाबा को बीच मे खडे देखकर सभी ने शस्त्र त्याग दिये और सभी आकर उनके चरणों मे प्रणाम करने लगे। चन्द्र भी अपने पितामह के समीप आये और उन्हें प्रणाम करके सिर झुका, एक ओर खड़े हो गये।

ब्रह्माजी अपनी सफेद दाढी पर हाथ फेरते हुए, बूढ़े पुरुष जैसे अधिकार और अपनेपन के स्वर म बोलते हैं, वसे हो चन्द्रमा को सम्बोधित करके कहने लगे— 'चन्द्र, भाई, तुम्हारी यह बात हमे बहुत बुरी लगती है। तुम अपने स्वरूप को सर्वथा भूल गये। ऐसा अनुचित कार्य तुम्हारा पद प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है। तुम्हें लज्जा आनी चाहिये। एक तो तुमने अनुचित कार्य किया है तिस पर भी युद्ध करने को उद्यत हो।"

यह सुनकर शुक्राचार्य ने कहा—' भगवन् ये कहाँ युद्ध कर रहे हैं ? यदि कोई किसी के ऊपर प्रहार करे, तो क्या उसे अपनी रक्षा भी न करनी चाहिये ?"

यह सुनकर, शुक्राचार्य को डांटते हुए, ब्रह्माजी बोले—"चुप रहो तुम। यह सब अपराध तुम्हारा हो है। तुम्हे लज्जा आनी चाहिये। तुम अनुचित पक्ष लेकर अपने द्वेष भाव को व्यक्त कर रहे हो।" फिर चन्द्रमा को लक्ष्यकर बोले— तुम इन लोगो के चक्कर मे आ गये हो। ये असुर, देवताओ को जीतकर क्या तुम्हें जीवित छोड देंगे ? ये असुर तो स्वार्थी है। स्वार्थ-वश ये तुम्हारा साथ दे रहे हैं, देवताओ से अपनी शत्रुता का बदला ले रहे हैं। तुम्हारा पक्ष निवल है। हमारी बात माना। जो हुआ सो हुआ, बृहस्पति की पत्नी को अभी सब के सम्मुख लाकर दे दो।'

यह सुनकर चन्द्रमा सिटपिटा गये। वे कुछ भी न बोल सके। तब ब्रह्माजी ने कहा—"तू बोलता क्यो नहो ? क्या कहता है देगा कि नहीं ?'

चन्द्रमा ने, सिर नीचे किये ही किये, लज्जित होकर कहा— "जैसी आपकी आज्ञा।"

ब्रह्माजी ने डाँटकर कहा—"हमारी यही आज्ञा है कि अभी लाकर तारा को लौटा दो।"

सूतजी कहते हैं—' मुनियो, अब चन्द्रमा क्या करते ! उन्होंने तरन्त लाकर तारा को बृहस्पति के हवाले कर दिया। सभी तारा को चकित दृष्टि से देखने लगे। युद्ध ता रुक गया, किन्तु अब एक दूसरा युद्ध छिड गया। अब तक स्त्री के लिये झंझट था। अब पुत्र के लिये झंझट आरम्भ हो गया।

शौनक जी ने पूछा—' सूतजी, पुत्र के लिये कैसे झंझट हुआ ?"

सूतजी बोले—' हाँ, महाराज ! सुनाऊँगा इसे भी। तनिक मैं आचमन करके स्वस्थ हो लूँ।"

छप्पय

दारा को सुनि हरन देवगुरु दुख अति पायो।
धर्म नीति कहि चन्द्र विविध विधि गुरु समझायो॥
भयो काम-वश चन्द्र सीख गुरु की नहिँ मानी।
लियो सोम को पक्ष शुक्र ने अवसर जानी॥
शिव सुर गुरु को पक्ष लै, ताराहित लड़िवे चले।
अस्त्र शस्त्र तेँ सजि असुर, आइ चन्द्रमा तेँ मिले॥

चन्द्र-पुत्र बुध

[७२०]

तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्यभिधां नृप।
बुद्‌ध्या गम्भीरया येन पुत्रेणापोडुराण्मुदम्॥*
(श्री० भा० ९ स्क०, १४ अ०, १४ श्लो०)

छप्पय

कमलयोनि ढिँग जाइ अङ्गिरा वृत्त सुनाये।
सुनि चतुरानन तुरत शुक्र-शिव-गुरु-ढिँग आये॥
झिड़के आके चन्द्र कोप करि डाँट बताई।
कीन्हों बीच-बिचाव देवगुरु-दार दिवाई॥
देखि गर्भिणी बृहस्पति, आग बबूला ह्वै गये।
कछुक कहे कटु दुर्वचन, पत्नी पै क्रोधित भये॥

किसी के कुल मे कुछ दोष हो और सब के सामने वह बात प्रकट की जाय, तो उसे बडी लज्जा आती है। कुल की कालिमा से मन मे बडा सताप होता है। इसीलिये कुलीन पुरुष एक प्रकार का गर्व किया करते हैं कि हम श्रेष्ठ वंश के हैं, उच्च-कुल प्रसूत है। वैसे बडो के तो सब दोष छिप जाते हैं, फिर भी कहने

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन् ब्रह्माजी ने उस तारा के पुत्र का नाम 'बुध' और रख दिया, क्योंकि वह गम्भीर बुद्धि वाला था। उस पुत्र को पाकर चन्द्रदेव को परम प्रसन्नता प्राप्त हुई।

वाले कहते ही हैं। सम्मुख नहीं कहते, तो पीठ-पीछे कहते ही हैं। लोगों को दोष देखने में, दूसरों के दोषों को कहने में, एक प्रकार का रस मिलता है। यह पर-दोष-दर्शन की प्रवृत्ति पुरुषों में स्वाभाविक है—जिसमें नहीं है, वह मनुष्य नहीं, देवता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब तारा के लिये देवता और असुरों में घोर-युद्ध की तैयारियाँ हो गईं, तब बृहस्पतिजी के पिता भगवान् अङ्गिरा घबड़ाये। उन्होंने सोचा—"एक ओर तो शूलपाणि शंकर, बृहस्पति, इन्द्र तथा अन्यान्य वरुण, यम, कुबेर, आदि देवतागण हैं, दूसरी ओर शुक्राचार्य तथा बलि, नमुचि, सम्बर, आदि परम पराक्रमी असुर हैं। दोनों ही ओर के वीर बलशाली हैं। एक स्त्री के पीछे संसार का संहार हो जायगा, जैसे हो तैसे इस युद्ध को रोकना चाहिये।" यह सोचकर वे दौड़े-दौड़े ब्रह्माजी के पास गये और उन्हें लिवा लाये। ब्रह्माजी ने चन्द्रमा को डाँट-डपट कर तारा को बृहस्पतिजी को दिलवा दी बृहस्पतिजी ने देखा, तारा तो गर्भवती है, उसका गर्भ सात महीने का हो गया है। तब तो वे कुपित हुए। उन्होंने अपनी पत्नी को डाँटकरकहा—"दुष्टे ! तूने मेरे क्षेत्र में किसका बीज धारण कर रखा है। तू इसे तुरन्त त्याग दे। काम तो तूने ऐसा किया है कि मैं अभी तुझे शाप देकर भस्म कर देता, किन्तु मैं तुझे भस्म न करूँगा। तेरे द्वारा मैं सन्तान उत्पन्न करना चाहता हूँ। तू इस गर्भ के बालक को अभी यहीं जन दे। तुझे घृत कुल्या, पय कुल्या स्नान करा के शुद्ध रूप में मैं पुनः ग्रहण कर लूँगा।"

यह सुनकर तारा बड़ी लज्जित हुई। उसे अपने पति के सामर्थ्य का पता था। वह जानती थी कि बात न मानने पर उसके पति उसे तुरन्त भस्म कर देंगे। इसलिए उसने उस गर्भस्थ बालक को तुरन्त त्याग दिया। वह बच्चा अत्यन्त सुन्दर था।

उसका मुख-मडल पूर्ण चन्द्र के समान चमक रहा था। सुवर्ण के सदृश उसका वर्ण था। वह देखने वालो के मन को स्वत. ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। उसे देखकर चन्द्रमा ने कहा—"ना पुत्र मेरा है, अत. इसे मुझे दे जाओ।"

जब तक पुत्र का मुख नही देखा था, तब तक तो बृहस्पति जी उसे दूसरे का बना रहे थे। इतने सुन्दर पुत्र को देखकर उन्हे भी लोभ हो आया। वे बोले—"वाह, यह बात अच्छी रही। स्त्री मेरी है, तो पुत्र भी मेरा ही है।"

इस पर चन्द्रमा बोले—"देखिये, अन्याय न कीजिये। वृक्ष मे बीज ही प्रधान माना जाता है। जिसका बीज, उसका वृक्ष न्यायत. पुत्र मेरा है।"

बृहस्पति बोले—"तुम्हारा कैसे है ? मेरा है जी।"

चन्द्रमा और बृहस्पति के विवाद को देख और सुनकर बूढे-बूढे ऋषियो को बडी लज्जा आई। वे तारा के समीप गये और अत्यन्त ही प्यार के साथ बोले—"बेटी! सत्य-सत्य बता दे, यह बच्चा किसका है।"

सब के सम्मुख ऐसा प्रश्न सुनकर तारा अत्यन्त लज्जित हुई। वह सिर नीचे कर चुपचाप खडी-खडी, पैर के अगूठे के नख से भूमि को खोदती रही। उसने कुछ भी उत्तर नही दिया।

इस पर एक बूढे से ऋषि ने कहा—"बेटी! लजाने की कोई बात नही। जैसे-तैसे तो युद्ध टला है अब इस बच्चे के लिये फिर युद्ध हो जायगा। चन्द्र और गुरु—दोनो ही क्रोध मे भरे हैं। तेरे ही हाथ मे अब निर्णय है। यदि चन्द्र का हो तो 'हां' कर दे, चन्द्र का न हो 'ना' कर दे।

इतना सुनकर तारा ने न 'हां' किया, न 'ना'। वह —— -सा बच्चा दिव्य था। गर्भ मे ही उसे सब ज्ञान हो

जब उसने देखा कि उसकी माँ, व्यर्थ की लज्जा मे बात बढा रही है, तब वह लाल-लाल आँख करके क्रोध मे भर कर बोला, 'माँ तुम्हे अपने कृत्य पर लज्जा आनी चाहिये। भरी सभा में तुम मेरा अपमान करा रही हो। जो सत्य बात हो, उसे बता क्यो नही देती? अब व्यर्थ की लज्जा करने से लाभ ही क्या है? ये सब तो सर्वज्ञ ऋषि हैं।"

अपने सद्य जात पुत्र के मुख से ऐसी बात सुनकर तारा और भी अधिक लज्जित हुई। सभी लोग उस नवजात पुत्र के मुख मे ऐसी बुद्धिमानी की बात सुनकर विस्मित हुए। बूढे बाबा ब्रह्मा ने जब देखा कि तारा अत्यधिक लज्जित हो रही है, तब वे उसे चुपचाप एकान्त मे ले गये और बडे ममता भरे स्वर मे पुचकाराते हुए बोले—'बेटी! लजाने की कोई बात नही। तेरा तो कुछ अपराध ही नही। तू इतना ही बता दे, किसका है यह बालक।"

नीचा सिर किये-किये ही अत्यन्त लज्जा के साथ आखों में आँसू भरकर तारा ने इतना ही कहा—"चन्द्रदेव का।,, .

अब क्या था! प्रधान न्यायालय का निर्णय मिल गया। ब्रह्माजी ने आकर सबको अपना निर्णय सुना दिया—"देखो भाई, बृहस्पति जी का इस बच्चे पर स्वत्व न्यायत: नहीं। यह बच्चा चन्द्रमा का है।"

इतना सुनते हो दौड़कर चन्द्रदेव ने बच्चे को गोद मे उठा लिया। वे बार-बार उसका मुख चुम्बन करने लगे। चन्द्रमा की गोद में बुध इसी प्रकार लगते थे, मानो करुण-रस की गोद मे वात्सल्य क्रीडा कर रहा हो। सभी इस दृश्य को देखकर वात्सल्य-रस का आस्वादन करने लगे। ब्रह्माजी सबसे पूजित होकर ब्रह्मलोक को चले गये। बृहस्पति जी अपनी पत्नी तारा

को लेकर स्वर्ग की ओर चल दिये। देवताओ ने भी गुरु का अनुगमन किया। शुक्राचार्य को आगे करके सब असुर भी पाताल को प्रस्थान कर गये। शिवजी कैलाश की ओर अपने भूत-प्रेत पिशाचो के साथ चले गये। बुध को लेकर चन्द्रमा भी अपने चन्द्रलोक मे आकर आनन्द पूर्वक रहने लगे।

कुछ काल के पश्चात् बुध ने अपने पिता चन्द्रदेव से कहा—"पिताजी! मेरी इच्छा तप करने की है। आपकी आज्ञा हो, तो मैं निर्जन वन मे जाकर घोर तप करूं।"

तप की बात सुनकर चन्द्रमा अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और बोले—"वत्स! तुम्हारा विचार बहुत ही उत्तम है। तुम जो इतना वैभव देख रहे हो, यह सब तप द्वारा ही मुझे प्राप्त हुआ है। चन्द्रलोक का समस्त ऐश्वर्य ब्रह्माजी ने मुझे तप से ही प्रसन्न होकर दिया है। मेरी गणना ग्रहो मे की गई है। तुम भी घोर तप करके महत्व प्राप्त कर सकते हो।"

अपने पिता की अनुकूल सम्मति पाकर बुध को बडी प्रसन्नता हुई। वे चन्द्र के चरणो में प्रणाम करके उत्तर दिशा मे जा सुमेरु के समीप घोर तप करने लगे। वे कंठ तक जल में खड़े होकर निरन्तर जप करते रहते थे। एक तो वे वसे ही बहुत अधिक सुन्दर थे, किन्तु तपस्या के प्रभाव से उनकी सुन्दरता और निखर गई थी। उनका तप-पूत मुख मण्डल शरद्कालीन चन्द्रमा को भी लज्जित करने वाला था वे अपने प्रकाश से वन की सभी दिशाओ को प्रकाशित कर रहे थे। वही उनके एक लडका पुरूरवा हुआ, जो गङ्गा-यमुना के सगम पर अवस्थित प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के राजा हुए। उन पुरूरवा के महाराज सुद्युम्न माता भी थे और पिता भी।

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी! आपने

कहा, पुरूरवा बुध के पुत्र थे। अब आप कह रहे हैं, वे महाराज सुद्युम्न के पुत्र थे। यह विरोध वाली बात कैसी ! फिर आपने कहा—"सुद्युम्न पिता भी थे और माता भी।" भगवान् के लिए तो कहा जा सकता है, "त्वमेव माता च पिता त्वमेव" तुम ही माता हो, तुम ही पिता हो, किन्तु एक मनुष्य माता-पिता दोनों कैसे हो सकता है ? पिता वीर्य वपन करता है, माता गर्भ धारण करती है। माता पिता नहीं हो सकती; पिता माता नहीं बन सकते। महाराजा पुरूरवा के सुद्युम्न माता और पिता दोनों ही कैसे हुए ?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—'मुनियो ! यह सब भोले बाबा के कौतुक हैं। उन्हे ही ऐसी ऊट-पटांग बातें सूझती हैं। वे ही चाहे तो स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री बना सकते हैं। महाराज पुरूरवा की उत्पत्ति विचित्र ढग से हुई। वे मातृ-सम्बन्ध से तो सूर्यवंशी हैं और पितृवंश से चन्द्रवंशी। सत्य बात तो यह है कि चन्द्रवंश का आरम्भ इनसे ही हुआ। यही सूर्यवंश से चन्द्रवंश को पृथक् करने वाले महाराज हुए। मैं इनकी उत्पत्ति की कथा सुनाता हूँ। आप सब इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

पूँछ-तोछ विधि करी भेद तारा बतलायो।
जानि चन्द्र को तनय तुरत बुध तिन्हें दिवायो॥
गुणी तपस्वी परम सुघर बुध वन महँ तप हित।
निवसें तबई फँस्यो इला महँ चन्द्र-पुत्र-चित॥
मनु कुमार सुद्युम्न इक, दिवस सेन सजि वन गये।
तहँ शिवजी के शाप तैं, छोरा तैं छोरी भये॥

बुध-पुत्र पुरूरवा

[७२१]

अथ तामाश्रमाभ्याशे चरन्तीं प्रमदोत्तमाम् ।
स्त्रीभिःपरिवृतां वीक्ष्य चकमे भगवान् बुधः ॥
सापि तं चकमे सुभ्रूः सोमराजसुतं पतिम् ।
स तस्यां जनयामास पुरूरवसमात्मजम् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १ अ० ३४, ३५ श्लो०)

छप्पय

घोड़ा घोड़ी भये लोग सब भये लुगाई ।
नर तैं कैसे नारि बने सुधि बुधि बिसराई ॥
परम सुन्दरी भई फिरें इत-उत सब वन महँ ।
इला रूप सर काम घुस्यो श्री बुध के मन महँ ॥
सैननि के संकेत तैं, झट-पट्ट कछु है गई ।
सहमत दोऊ ई भये, इला वधू बुध की भई ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! राजा सुद्युम्न जब स्त्री होकर बुध के आश्रम के समीप अन्य स्त्रियों के सहित विचरने लगे, तब उन स्त्री-रत्नों को देखकर भगवान् बुध ने उन्हें अपनी बहू बनाने की कामना की, उस सुन्दर भौंहवाली स्त्री ने भी चन्द्रतनय बुध को अपना दुल्हा बनाना चाहा । उन्हीं से बुध द्वारा पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न हुए ।"

अदृष्ट कहकर नहीं आता। कौन चाहता है, हम दुखी हों? किन्तु न चाहने पर भी दुःख तो आ ही जाता है। इच्छा न करने पर भी रोग शरीर में आ ही जाता है। भाग्य को जो अपने पुरुषार्थ से, तप से, प्रभाव से मेटना चाहते हैं, वे सर्वथा सफल नहीं होते। इसीलिये भगवद् भक्त भाग्य को मेटने का प्रयत्न नहीं करते। वे भगवान् से यही प्रार्थना करते हैं—'हे प्रभो! पूर्व कर्मों के अनुरूप जो होने वाला हो, वह अवश्य हो। हम भाग्य को मेटने की प्रार्थना नहीं करते। हमारी प्रार्थना तो एक-मात्र यही है कि हम कहीं भी रहें किसी भी दशा में रहें, आपके चरणों के आश्रय में रहें, आप के नामों का चिंतन करते रहें।' भगवद् भक्त सिद्धि दिखाकर प्रकृति के काम में हस्तक्षेप करने की व्यर्थ चेष्टा नहीं करते। इस विषय में एक कथा है।

दो भगवद् भक्त महात्मा थे, कहीं दक्षिण देश की यात्रा कर रहे थे। मार्ग में उन्हें एक तीसरे साधु मिले। उन्होंने भी साथ चलने की प्रार्थना की। उन वैष्णवों ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। अब ये तीन हो गये। नये आये हुए साधु का पंचभूतों पर अधिकार था। वे जल का स्तंभन कर सकते थे। वायु को रोक सकते थे। आगे चलकर वे वैष्णव एक स्थान पर वन में खुले स्थान में भोजन बनाने लगे। उसी समय उन्होंने देखा, बड़े वेग से आँधी आ रही है। इन नवीन आगन्तुक संत ने देखा कि आँधी आई तो सब दाल भात धूल-मय बन जायगा। इसलिये वे जिधर से आँधी आ रही थी, उधर एक तृण लेकर खड़े हो गये। तृण को देखकर वायु बीच से फट गई। इधर की वायु इधर निकल गई उधर की उधर। रोटी बनाने वाले वैष्णवों को वायु लगी ही नहीं।

यह देखकर वैष्णवों को बड़ा बुरा लगा। उन्होंने उन

आगन्तुक सन्त से कहा—"आपने यह काम उचित नही किया, आप हमारे साथ न रहे चाहे जहाँ चले जायँ।"

इस पर आचार्य प्रकट करते हुए संत ने कहा—'मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया है जिससे आप मेरा परित्याग कर रहे हैं ? जब से साथ हूँ, तब से अपनी बुद्धि से मैंने आप का कोई अपकार नही किया। मैंने तो वायु को फाड़कर आपका उपकार ही किया, नही तो आपका दाल-भात धूलमय बन जाता, आप सब भूखे रह जाते।''

यह सुनकर उनमे से जो बूढे वैष्णव थे, वे बोले—"दाल-भात मे मिट्टी मिल जाती, तो वह किरकिरा ही तो हो जाता। इससे खाने मे हमे तनिक कष्ट होता। कष्ट से ही कठ के नीचे उतार लेते। न उतरते तो आगे चलकर पुन बना लेते। आप को इस प्रकार अपने स्वार्थ के लिये सिद्धि का प्रयोग न करना चाहिए। भगवान् के सभी कार्यो मे प्राणियो का मगल ही छिपा रहता है। सम्मुख जो समुद्र है, उसमे एक जहाज डूब रहा है। उसमें बैठे सहस्रो स्त्री पुरुष आर्तभाव से भगवान् की स्तुति कर रहे हैं। उसी पोत मे धक्का देने यह वेगवती वायु जा रही है। आप ने इसे बीच मे से फाड़कर इसके वेग को कम कर दिया आपने दैवी कार्य मे व्यर्थ हस्तक्षेप किया है। अत. आप हमारे साथ रह नही सकते।"

यह सुनकर वे सन्त बडे प्रसन्न हुए। आगे से उन्होने ये सिद्धियाँ त्याग दी। दैव के भरोसे रहकर भगवत भजन मे वे निमग्न रहने लगे। इसीलिये श्रेष्ठ पुरुष सिद्धियो का प्रयोग नही करते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझ से बुध-पुत्र पुरूरवा की उत्पत्ति का प्रश्न पूछा था। आपने दादा को थी पुरूरवा

के माता-पिता दोनों ही सुद्युम्न कैसे हुए। मैं आपके इस प्रश्न का उत्तर देता हूँ। आप इस प्रसंग को समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।

विवस्वान् के पुत्र वैवस्वत मनु की श्रद्धा-नामक पत्नी में इक्ष्वाकु नृग, शर्याति दिष्ट, धृष्ट, करूष, नरिष्यत, पृषध्र, नभग और कवि—ये दश पुत्र हुए। इन सब का वर्णन मैं सूर्य-वंश के प्रसङ्ग मे ही कर चुका हूँ। जब महाराज के इक्ष्वाकु प्रभृति पुत्र पैदा नही हुए थे तब तक उनकी पत्नी सन्तान-रहित थी बहुत दिनो तक कोई सन्तान महाराज मनु के नही हुई, तब वे चिन्तित हुए। मुनियो! गृहस्थियो को पुत्र की बड़ी लालसा रहती है। पुत्र के बिना गृह सूना-सूना दिखाई देता है। पुत्र ही घर का दीपक है। सन्तानहीन घर मे और स्मशान मे अन्तर ही क्या? सन्तान के लिये सद्गृहस्थ दान, धर्म, आदि अनेक उपाय करते हैं। महाराज मनु ने भी अपने कुल गुरु भगवान् वसिष्ठ को बुलाकर उनसे प्रार्थना की— प्रभो! मेरे कोई सन्तान नही, आप ऐसा कोई पुण्य-कार्य बतावें, जिससे मेरे सन्तान हो जाय।"

इस पर वसिष्ठ जी ने कहा—"राजन्! आप चिन्ता न कर। हमारे मन्त्रो की शक्ति अमोघ है। देवता भी मन्त्र के ही अधीन हैं। हम आपके लिये पुत्रेष्टि यज्ञ करेंगे। उसके प्रभाव से निश्चय ही आपके पुत्र हो जायगा।"

राजा ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"प्रभो! आप मुझे उपदेश दें, मुझे क्या-क्या करना होगा। जो सामग्री आवश्यक हो, उसके लिये आज्ञा दें। मुझे किस नियम से रहना होगा?"

भगवान् वसिष्ठ ने कहा—"यज्ञ की समस्त सामग्रियों को

तो मैं मंगा ही लूंगा। आप पति पत्नी को केवल दुग्ध पीकर रहना होगा।"

भगवान् वसिष्ठ की आज्ञा से रानी-सहित राजा ने यज्ञ की विधिपूर्वक दीक्षा ली। वसिष्ठ जी ने सन्तान की कामना से एक यज्ञ कराया, जिसमे मित्रावरुण की प्रधानता थी। राजा-रानी केवल दुग्ध का ही आहार करते थे। भगवान् की इच्छा, विधि का विधान, रानी को यज्ञ के बीच मे ही ऐसी इच्छा हुई कि मेरे पुत्र न होकर पुत्री ही हो। इसीलिये वह चुपके से होता के पास अकेले ही गई और प्रणाम करके बोली—'भगवन्! मेरी एक प्रार्थना है आप उसे स्वीकार कर लें तो मैं वह निवेदन करूं।"

होता ने कहा—"महारानी जी! आप कैसी बातें कर रही हैं? यहाँ तो हम आपके अधीन ही हैं। आप जैसा कहेंगी, वैसा ही हम करेंगे।'

रानी ने कहा—"मेरी इच्छा पुत्री प्राप्त करने की है। आप ऐसा मन्त्र पढे कि मेरे पुत्र न होकर पुत्री ही हो। राजा पुत्र चाहते हैं, अत आप उनसे यह बात न कहे।"

होता ने कहा—'अच्छी बात है। हमे क्या। हम पुत्र का मन्त्र न पढकर पुत्री का पढ देंगे। आप जब मना करती हैं तब महाराज से भी हम यह न कहेगे। आप निश्चिन्त रहे, आपके निश्चय ही पुत्री पैदा होगी।"

इतना सुनकर महारानी बडी प्रसन्न हुई। होता का दान-मान मे सत्कार करके वे चली गई। जब मुख्य कार्य कर्ता को ही फोड लिया जाता है, तब काम गडबड हो ही जाता है। होता ने चुपके से पुत्री का मन्त्र पढ दिया। इसलिये राजा के छोरा न होकर छोरी ही हुई।

महाराज को तो पूर्ण आशा थी कि मेरे पुत्र उत्पन्न

क्योंकि मन्त्रों की शक्ति अमोघ है। किन्तु जब उन्होंने सुना कि मेरे पुत्र न होकर पुत्री हुई है, तब तो वे उदास हो गये। वसिष्ठ जी ने आकर उसका नाम इला रखा।

तब उदास होकर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! हम तो सदा से यही बात सुनते आये हैं, कि आपके मन्त्र अमोघ होते हैं। आप जो भी संकल्प करते हैं, वही ज्यों-का-त्यों पूर्ण, होता है, किन्तु अब मुझे मन्त्रों की अमोघता पर कुछ सन्देह होने लगा है।"

वसिष्ठ जी ने कहा—"राजन्! आपको हमारे मन्त्रों पर सन्देह क्यों हुआ?"

मनु बोले—"ब्रह्मन्! मैंने पुत्र की कामना से इष्टि की थी। आपने भी कहा था—पुत्र ही होगा। किन्तु पुत्र न होकर मेरे पुत्री ही हुई। आप वेदज्ञ ब्राह्मणों के वाक्य विपरीत फल देने वाले कैसे हो गये? यह प्रसिद्ध है कि देवताओं के और मन्त्र शास्त्र के ज्ञाता जितेन्द्रिय तप.पूत निष्पाप ब्राह्मणों के वचन असत्य नहीं होते। इसमें तो प्रत्यक्ष असत्य है।"

यह सुनकर वसिष्ठ जी ने कहा—"हाँ, राजन्! मैं भी यह सोच रहा था, कि हमारा यह संकल्प विपरीत फल देने वाला क्यों हुआ। यह इला कन्या क्यों हुई? अच्छी बात है, मैं ध्यान-मग्न होकर इसके कारण को देखता हूँ।"

यह कहकर मुनि ने ध्यान लगाया। ध्यान से सब बातें जान कर वे बोले—"राजन्! मैं सब समझ गया। पर का भेदी ही अनर्थ कर देता है। यह आपकी पत्नी का काम है। रानी के कह ने से होता ने पुत्री की कामना से समाहित चित्त होकर वषट्कार का उच्चारण करते हुए हवि छोड़ी थी, इसी से सब गुड़ गोबर हो गया।"

राजा ने कहा—"तब अब क्या हो ? अब कोई ऐसा मन्त्र नहीं, जो लडकी से फिर लड़का हो जाय ?"

वसिष्ठ जी ने कहा—"है क्यो नही ? हमारे मन्त्रो मे सब शक्तियाँ हैं। मैं अभी इस लडकी को लडका करता हूँ, चिन्ता न करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह कहकर भगवान् वसिष्ठ ने 'इला को पुरुपत्व प्राप्त हो' इस सकल्प मे पुराणपुरुप पुरुषोत्तम की प्रार्थना की, वेद-मंत्रो द्वारा उनकी स्तुति की। वाछा-कल्पतरु भक्तवत्सल भगवान् वसिष्ठजी को प्रार्थना से प्रसन्न हुए। उन्होने उस इला नाम की पुत्री को पुत्र बना दिया। वही इला पुरुष होकर सुद्युम्न के नाम से प्रसिद्ध हुई। राजा पुत्र को देखकर परम प्रमुदित हुए। उन्होने बडा भारी उत्सव किया। कुमार सुद्युम्न शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढने लगे। शनै शनै वह युवा हो गये।

एक दिन कुमार सुद्युम्न अपने बहुत से सेवको को साथ लेकर पर्वतीय प्रान्त मे आखेट के निमित्त गये। वे स्वय बडे शूर-वीर थे, उनके साथी सभी सुशिक्षित तथा स्वामि-भक्त थे। कुमार अति सुन्दर कवच धारण किये हुए थे। हाथ मे धनुपबाण लेकर वे साक्षात् वीर-रस-से प्रतीत होते थे। कुमार का घोडा अति सुन्दर और दौडने मे सर्वश्रेष्ठ था। वह सिन्धु देश के उत्पन्न हुए अश्वो मे अच्छी नस्ल का था। बड़े उत्साह से सुद्युम्न उस पर चढ़कर चले। चलते-चलते वे बहुत दूर निकल गय। हिमालय को लाँघकर वे सुमेरु पर्वत की तलहटी मे आ गये। वहाँ उन्होने एक हिरण को देखा। उसे देखते ही राजा ने अपना घोडा उसके पीछे दौडा दिया। वह बडा बली था, अत्यन्त ही वेग से छलाँगें मारता हुआ दौड रहा था। राजा पूरी शक्ति से

घोड़े को दौड़ा रहे थे। अन्त में मृग सुमेरु प्रान्त के किसी अरण्य में घुस गया और तुरन्त अदृश्य हो गया। राजा ने जब देखा, मेरा शिकार मेरे हाथ से निकल गया, तब तो वे निराश होकर त्रिपुरुष खण्ड में इधर-उधर घूमने लगे। कुछ देर में उनके साथी-सैनिक-सचिव सभी आ गये। सब को साथ लेकर वे उस हरे-भरे प्रान्त में भ्रमण करने लगे। कुछ दूर चल कर वे देखते हैं कि उनके सम्पूर्ण शरीर में स्त्रियों के सब चिह्न उत्पन्न हो गये। वे पुरुष से स्त्री बन गये। यही नहीं, उनके घोड़े घोड़ी बन गये, हाथी हथिनियाँ हो गई। सब-के-सब सैनिक भी पुरुष से स्त्री बन गये। यहाँ तक कि सभी अपने नाम, गोत्र तथा पुरुष होने के अभिमान को भी भूल गये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! उस स्थान में ऐसी कौन-सी शक्ति थी, जिसके कारण सब के सब स्त्री बन गये। सुद्युम्न स्त्री हो जाते, तब तो कोई बात ही नहीं थी क्योंकि वे तो कन्या बनकर उत्पन्न ही हुए थे। किन्तु और सब-के सब किस कारण स्त्री बने, कृपा करके इस कथा को मुझे सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो! मैं इसका कारण आपको बताऊँगा। इस विषय में जो एक कथा है, पहिले उसे ही आप श्रवण करें। उसी से सब भेद आपको मालूम पड़ जायगा। अच्छा, तो सुनिये उस कथा प्रसंग को।

जब शिवजी पार्वती के साथ विवाह करके हिमालय पर ही रहने लगे तब वे पार्वती जी के साथ एकान्त वन में भाँति-भाँति की क्रीडा किया करते थे। भोजन, भजन और रति का सुख स्वाद एकान्त में ही मिलता है। पुष्पित सुन्दर सुघर वनों में निभृत निकुञ्जों में, पर्वतीय प्रान्तों में, सरिताओं के तटों पर पार्वती के साथ शिवजी विहार करने लगे। एक दिन एकान्त

आरण्य मे शिवजी किसी सघन वृक्ष की छाया मे विराजमान थे। भगवती पार्वती विवस्त्रा बनी उनके अंक मे विराजमान थी। उसी समय बहुत लम्बी-लम्बी दाढी जटाओ वाले फलाहारी, दुग्धाहारी, ब्रह्मचारी, तपस्वी मुनि शिवजी के दर्शन के लिये वहाँ आये। पार्वती जी ने जब देखा कि ये जङ्गलो भैसे के से चर्म वाले ज्ञान प्रधान बूढे-बूढे ऋषि शिवजी की ही ओर आ रहे हैं, तब तो वे अत्यन्त लज्जित होकर शिवजी की गोद से उठ कर किसी निभृत निकुञ्ज मे जाकर छिप गई।

ऋषियो को अपनी भूल मालूम हुई। उन्होने सोचा—"यह तो पार्वती रमेश्वर के रमण का समय है इस समय दर्शन के लिये जाना उचित नही" यह सोचकर वे उलटे पैर लौट गये। विवस्त्रा स्त्री को देखना दोष है, उसी लिये सब ज्यो के त्यो भगवान् नर नारायण के तपस्या स्थान वदरिकाश्रम की ओर चले गये और भगवान् के दर्शनोपरान्त प्रेमवश हुए अपने मानसिक दोष के लिये भगवान् से क्षमा याचना की।

इधर जब ऋषि चले गये, तब पार्वती जी ने आकर कहा—"महाराज! ये नीरस लोग आकर रङ्ग मे भङ्ग कर देते है।"

शिवजी ने कहा— 'यह तो सृष्टि ही ऐसी है। कही भो जाओ, कोई-न-कोई तो वहाँ आ ही जायगा।"

पार्वती जी ने कहा—"कितन एकान्त मे आकर हम यहाँ वैठे हैं। फिर भी ये आर्त-जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी कँगले आकर घेर ही लेते है। इनके कारण रस का आस्वादन नही होता।"

शिवजी ने कहा—'तब क्या ?"

पार्वती जी ने कहा—"मधुर रस मे आलम्बन स्त्री ही है। रस का आस्वादन वैसे तो परस्पर मे होता है, किन्तु स्त्री-हृदय

अत्यधिक सरस होता है। स्त्री, स्त्री से उतनी लज्जा भी नहीं करती। अत ऐसा कीजिये कि हमारे और आपके बीच कोई पुरुप न आने पावे। कोई स्त्री चाहे तो भले ही आ सकती है।"

शिवजी ने कहा—"यह तो असम्भव है। जहाँ पुरुप रहेंगे, वहाँ स्त्रियाँ आयेंगी ही और जहाँ स्त्रियाँ रहेगी, वहाँ पुरुप का प्रवेश स्वाभाविक ही है।"

पार्वती जी ने कहा—"चाहे कुछ भी हो महाराज ! पुरुप तो आप ही एक हैं। आप ऐसा कर कि इतने वन क्षेत्र मे स्त्रियो को छोडकर पुरुष का प्रवेश ही न हो। आपको छोडकर इस वन मे सब स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ रहे।"

शिवजी ने अपनी प्रिया को प्रिय करने की कामना से उनकी बात का अनुमोदन करते हुए कहा— 'मेरे अतिरिक्त जो भी कोई पुरुप-जाति का प्राणी इस वन की निश्चित सीमा मे आयेगा, वन नि सदेह स्त्री बन जायेगा।"

शिवजी के इस शाप या आशीर्वाद की बात सर्वत्र-फैल गई। तब से कोई भी पुरुप-जाति का प्राणी उस वन मे नही जाता था। महाराज सुद्युम्न को यह बात मालूम नही थी, वे अपने साथियो सहित आनन्द मे विहार करते हुए वहाँ पहुँच गये। वहाँ पहुँचते ही शिवजी का शाप फलीभूत हुआ। राजा अपने साथियो सहित स्त्री हो गये। स्त्री होने पर उनका सौन्दर्य शतगुण अधिक बढ गया। अब तो वे सुद्युम्न से इला रानी बन गये। इला अपनी सखी-सहेलियों के सहित छम-छम करती हुई एक वन से दूसरे वन मे घूमने लगी और अपनी अनुपम आभा से उस वन को आलोकित करने लगी। वे घूमती-फिरती उसी स्थान मे पहुँची, जहाँ चन्द्र-पुत्र बुध जल मे खडे होकर तप कर रहे थे। बुध भी अत्यन्त सुन्दर थे। तपस्या के कारण उनका मुख-मडल

दमक रहा था। उन्होने जब इस अनुपम रूप लावण्य-युक्त चन्द्रमुखी ललना-ललाम को निहारा, तब वे सब जप-तप करना भूल गये। ईश्वर के रूप के स्थान मे इला का अनुपम रूप उनके मन मे बस गया। नेत्र फाड फाडकर उसकी ओर अपलक दृष्टि से निहारने लगे। इला भी सरोवर के तट पर खोई सी बैठ गई। उनके पैर आगे बढते ही नही थे। वह दृष्टि बचाकर बुध के तेजोमय मुख-मडल को बार-बार निहारती और अधीर हो जाती थी। जब वह बुध की दृष्टि मे भी सरसता और अनुराग देखती, तब तो उनका हृदय बाँसा उछलने लगता। बुध से अब नही रहा गया। अनुराग की मात्रा तो स्त्रियो मे पुरुषो की अपेक्षा अत्यधिक होनी ही है, किन्तु साथ ही उनमे लज्जा का भी प्राबल्य होता है। लज्जा के कारण वे सहसा अपने मनोगत भावो को वाणी द्वारा स्पष्ट प्रकट कर नही सकती। केवल हाव-भाव और चेष्टा द्वारा ही उसे अव्यक्त रीति से व्यक्त करती हैं। पुरुष निर्लज्ज होता है। स्त्रियो की अपेक्षा उसमे लज्जा कम होती है, इसलिये वाणी द्वारा प्रथम वही प्रस्ताव करता है।

बुध ने हाथ के सकेत से इला की एक सहचरी को बुलाया और उससे पूछा— 'देवि! तुम कौन हो? यह तुम्हारा स्वामिनी कौन है? इसका विवाह हुआ है या नही? तुम लोग इस वन मे क्यो घूम ही हो?'

इला को सहेली ने कहा—' देव! ये हमारी स्वामिनी हैं। हम सब इनकी सेविकाय हैं। इनका विवाह नही हुआ। ये पति की खोज मे ही घूम रही है। ये किस राजा की राजकुमारी हैं, इसका पता मुझे भी स्वय नही है।"

यह सुनकर बुध ने कहा—"देवि! मैंने अपना मन तथा स[illegible] तुम्हारी स्वामिनी के चरणो मे समर्पित कर दिया है।

ओर से उनसे प्रार्थना करो, मेरे ऊपर कृपा करें। मुझे स्नेहभरी दृष्टि से देखें।"

सहेली ने बुध का सन्देश इला से जाकर कहा। इला तो यह चाहती ही थी। दोनो एक दूसरे से मिले। बुध इला को सखियो सहित अपने सुन्दर आश्रम पर ले गये। बुध का छोटा-सा तो आश्रम, और स्त्रिया सहस्रो। वे इतनी भीड को रखकर क्या करते? उन्होने उन सब स्त्रियो को दूसरे-दूसरे पुरुषो को दे दिया। वे सबके सब एक-एक पुरुष की पत्नियाँ बन गईं। चन्द्र पुत्र बुध ने इला से विवाह कर लिया और वे उसके साथ आनन्द से सुखपूर्वक विहार करने लगे। कालान्तर मे इला गर्भवती हुई। उनके गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बुध ने उसका नाम पुरूरवा रखा।

इधर जब मनु ने देखा, मेरा पुत्र सुद्युम्न अभी लौटकर नही आया, एक वर्ष से अधिक समय हो गया, तब तो वे बडे चिंतित हुए। उसी समय बीणा बजावत, हरि गुण गावत, देवर्षि नारद वहाँ आये। श्राद्धदेव मनु ने उनका स्वागत सत्कार किया और विनय के साथ पूछा—'ब्रह्मन्! आप चौदहो भुवन मे सदा घूमते रहते हैं। कही मेरे पुत्र सुद्युम्न को देखा हो तो बतावें।"

यह सुनकर हँसते हुए नारद मुनि बोले—"राजन्! अब सुद्युम्न कहाँ! अब तो उसकी वह देह ही नही रही।"

यह सुनकर दुःख प्रकट करते हुए मनु सम्भ्रम के साथ बोले—"ब्रह्मन्! मेरे पुत्र को मृत्यु कैसे हुई? हाय! वही एक मेरा पुत्र था कितने जप तप यज्ञ याग द्वारा मैने उसे प्राप्त किया था। वह यहाँ से उत्तर दिशा आखेट के निमित्त गया था। वहाँ उसकी मृत्यु किसी हिंसक जीव द्वारा हुई या युद्ध करते-करते उसने शरीर

को त्याग किया ? वह तो वडा वली था, सहसा किसी से समर मे पराजित होने वाला नही था।"

देवर्षि नारद ने कहा—'राजन्! वह मरा नही, जीवित है; किन्तु अब वह पुरुष नही, स्त्री है।"

मनु ने चकित होकर कहा—"ब्रह्मन् वह लडकी होकर ही उत्पन्न हुआ था। जैसे-तैसे तो लडकी से लडका बनाया गया, फिर किस अपराध से लडकी बन गया।'

नारदजी बोले—राजन्! यह सब भोले बाबा की कृपा है। शिवजी ठहरे औघडदानी, जिसने जो माँगा उसे वही दे दिया।"

मनु बोले—'तब महाराज! अब क्या हो ?"

नारदजी बोले—'हो क्या! अपने कुल पुरोहित को पुनः भेजो। फिर उसी उपाय का आश्रय लो।"

नारदजी की बात सुनकर वैवस्वत मनु ने ऋषियों को एकत्रित किया। वे बुध के आश्रम पर पहुँचे। ऋषियो ने वसिष्ठजी से कहा—"भगवन्! आप तो पहिले भी इन्ह स्त्री से पुरुष बना चुके हैं। अब फिर कुछ वही उपाय कीजिये।"

वसिष्ठजी बोले—'देखो मुनियो! काठ की हांडी बार बार अग्नि पर नही चढती। पहिले तो मैने कर दिया। यह है रुद्र की बात! कही उनका रूप रौद्र बन गया, तो सब गुड गोबर हो जायगा। इसलिये आप सब मिलकर शिवजी के निमित्त रुद्र याग करें। शिवजी प्रसन्न हो जायँ तो चाहे जो कर सकते हैं।"

बुद्धजी ने जब देखा कि ये सब तो मेरी बहू को ही मुझसे छीनने का प्रयत्न कर रहे हैं, तब उन्हे बुरा तो अवश्य ही लगा होगा! किन्तु वे सकोचवश कुछ बोले नही। वसिष्ठजी बड़ी सावधानी के साथ यज्ञ करने लगे।

उनकी उपासना से सन्तुष्ट होकर सदाशिव शंकर प्रकट हुए और बोले—"वसिष्ठजी ! तुम क्या चाहते हो ?"

वसिष्ठ बोले—"भगवन् ! मेरा यजमान पुन स्त्री से पुरुष हो जाय।"

यह सुनकर शिवजी ने अपनी अर्धाङ्गिनी पार्वती जी से सम्मति लेकर कहा—"देखो, भाई ! जो बात मै पार्वतीजी से कह चुका हूँ, उसे अन्यथा नही कर सकता। आज मैने यदि इसे स्त्री से पुरुष कर दिया, तो फिर सदा के लिये प्रचलन हो जायगा। हमारे घर मे ही मतभेद हो जायगा। इसलिये मै इसे सर्वथा पुरुष नही बना सकता। फिर भी मेरी आराधना व्यर्थ नही, होती इसलिए मै इतना किये देता हूँ, कि यह एक महीना, स्त्री रहेगा, एक महीना पुरुष।" यह बात मनु को तो अच्छी लगी नही, किन्तु, वसिष्ठजी बोले—'भैया ! जहाँ सर्वस्व नाश हो रहा हो वहाँ पण्डित जन आधे पर ही संतोष कर लेते हैं। इसलिये भगवान् जो दे रहे हैं, उसे ही ले लो। ये कहीं कुपित हो गये तो फिर यह भी न देंगे।"

अब मनु क्या करते ? उन्होने इसे स्वीकार किया। तुरन्त इला स्त्री से पुरुष हो गयी। वे चारो ओर देखने लगे। अपने सम्मुख वसिष्ठजी को देखकर वे आश्चर्य करने लगे। बुध के आश्रम पर अपने को देखकर वे पूछने लगे—'भगवन् ! मैं तो इस देश मे मृगया के निमित्त सैन्य सजाकर आया था। मेरे सब साथी कहाँ गये ? मेरे ये कुल-पुरोहित भगवान् वसिष्ठ और पिता जी यहाँ कैसे आ गये ?"

तब बुध बोले—"राजन् ! आप मृगया के निमित्त इस वन आये थे। मार्ग मे बडे-बडे ओले पडे। आप के सब सैनिक और वाहन ओलो से मर गये। आप भी घायल हुए थे यह सौभाग्य

की बातें हैं, आप स्वस्थ हो गये। आप का समाचार पाकर ये इतने ऋषि-मुनि तथा आपके पिता यहाँ दौडे आये। अब आप अपनी राजधानी में जायें। यह एक बड़ा सुंदर बालक है, इसे आप साथ लेते जायें। पुत्र की भाँति इसका पालन करें।" यह कहकर बुध ने पुरूरवा को सुद्युम्न को दे दिया। उस इतने सुंदर सुकुमार सुत को पाकर सुद्युम्न पर संतुष्ट हुए। पुत्र को लेकर ये प्रयाग की परम पुण्य भूमि प्रतिष्ठानपुर, झूसी, में आये। यहाँ आकर ये सुखपूर्वक राज-काज करने लगे। ये एक महीना तो पुरुष होकर राज-करते थे और एक महीना स्त्री होकर महल में छिपे रहते थे। उन दिनों राज-काज सब बन्द रहता था। शिवजी की कृपा से जब ये स्त्री होते, तब पुरुषपने की सब बातें भूल जाते और जब पुरुष होते तो स्त्रीपने की बातों को भूल जाते। कालान्तर में इनके उत्कल, गय और विमल—ये तीन पुत्र और भी हुए।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हम यह जानना चाहते हैं कि ये—उत्कल, गय और विमल—पुत्र राजा की रानी के गर्भ से हुए या राजा के गर्भ से?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"अब महाराज! इसे तो आप अपनी योग-दृष्टि से ही देखकर समझ लें। मुझसे क्यों कहलाते हैं? सारांश यह है कि कैसे भी हो, राजा के चार पुत्र थे। इसीलिये ये पुरूरवा के माता भी थे, और पिता भी। शनैः-शनैः पुरूरवा बड़े हुए। वे राजा को महीने भर अन्तःपुर में छिपा देखकर संदेह करने लगे। प्रजा के लोग भी सुद्युम्न से सन्तुष्ट नहीं थे; क्योंकि वे एक महीना सभा में आते ही नहीं थे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुद्युम्न ने देखा, प्रजा उनसे

[illegible]तुष्ट न [illegible] है, उनका पुत्र भी राज्य के योग्य हो गया है; वे उसे सि[illegible]न पर बिठाकर तपस्या करने वन चले गये। तब प्रतिष्ठानपुर के राजा पुरूरवा हुए।"

छप्पय

नृप पुरूरवा भये इलामहँ बुधसुत मनहर।
सुनि वशिष्ठ तहँ आइ शैव-मख कीन्हों सुन्दर॥
भये तुष्ट शिव कह्यौ मास भरि नृप नर होवै।
रहै मास भरि नारि जाइ महलनि महँ सोवै।
प्रतिष्ठानपुर आइ गये, पुत्र विमल उत्कल भये।
नृप पुरूरवहिँ राज दै, तपहित पुनि वन महँ गये॥

पुरूरवा और उर्वशी

[७२२]

ततः पुरूरवा जज्ञे इलायां य उदाहृतः ।
तस्य रूपगुणौदार्य शीलद्रविणविक्रमान् ॥
श्रुत्वोर्वशीन्द्रभवने गीयमानान् सुरर्षिणा ।
तदन्तिकमुपेयाय देवी स्मरशरार्दिता ॥*
(श्री भा० स्क०१४ म १५, १६ श्लो०)

छप्पय

प्रतिष्ठानपुर अधिप जगतमहँ अति ही सुन्दर ।
भूप रूप लखि धँस्यो उर्वशी हृदय काम शर ॥
निज ऊरू तैं प्रकट करी नारी-नारायण ।
भई उर्वशी श्रेष्ठ स्वर्ग को सुन्दर भूषन ॥
सो पुरुरवा रूप पै, भ्रमरी सम मोहित भई ।
अमृत इन्द्र, सुर स्वर्ग तजि, विह्वल ह्वै नृपपुर गई ॥

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—' राजन् ! चन्द्र पुत्र बुध से इला मे पुरूरवा का जन्म हुआ, जिसके सम्बन्ध मे मैं प्रथम कह ही चुका हूँ । देवर्षि नारद द्वारा स्वर्ग में उन महाराज पुरूरवा के रूप, गुण, औदार्य ग –, सम्पत्ति, पराक्रमादि का वर्णन श्रवण करके उर्वशी अप्सरा कामवाण से विद्ध होकर उनके समीप आई ।'

संसार मे सौन्दर्य ऐसा आकर्षक पदार्थ है कि एक नारायण ऋषि को छोडकर कोई भी इससे बच नही सका है। हृदय के स्थान पर जिसके पत्थर रखा हो और आँखो मे ज्योति न हो, स्पर्श इन्द्रिय जिसकी शून्य हो गई हो, उस जड प्राणी की बात तो छोड दीजिये; नही तो इस संसार मे ऐसा कोई व्यक्ति नही, जो सौंदर्य से आकर्षित न होता हो। संसार मे यह आकर्षण न हो, तो इस जगत का प्रवाह एक दिन भी न चले। यह संसार सौंदर्य के आकर्षण से ही रुका है। प्राणी एक दूसरे के सौंदर्य को देखकर आकर्षित होते है और परस्पर बँध जाते हैं। यदि आकर्षण न हो, तो बन्धन भी न हो। विश्व ब्रह्माण्ड, बालखिल्य, कार्तिकेय, वसिष्ठ, अगस्त्य, व्यास तथा और सबका प्राकट्य सौंदर्याकर्षण के ही द्वारा हुआ है। जब जीव किसी पर भी आकर्षित हो जाता है, तब अपने स्वरूप को भूल जाता है, अपने महत्व को त्याग देता है, अपना श्रेष्ठ जैसे भी प्राप्त हो, वैसे ही रहने को तत्पर हो जाता है। इष्ट की प्राप्ति तब तक नही होती, जब तक हम अपना सर्वस्व उसके ऊपर न्यौछावर नही कर देते, अपनेपन को त्यागकर उसके अनुगत नही हो जाते। जल दूध मे मिलते ही अपने पूर्वरूप को त्याग देता है। तभी दो भिन्न वस्तुयें मिलकर एक होती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज सुद्युम्न अपने पुत्र पुरूरवा को प्रतिष्ठानपुर की गद्दी पर बिठाकर, वन को चले गये, तब महाराज पुरूरवा प्रतिष्ठानपुर के राजा हुए। वे इतने सुंदर थे कि स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी, इनके सौंदर्य पर मुग्ध होकर, स्वर्ग के सभी सुखो को छोडकर, पृथ्वी पर आकर, इनकी पत्नी बनी।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह स्वर्गीय

'अप्सरा उर्वशी स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा कैसे हुई और फिर वह स्वर्ग के देवताओं को छोड़कर पृथ्वी के एक राजा की पत्नी कैसे हुई ? कृपा करके पहिले मेरे इन प्रश्नों का उत्तर देकर तब आगे की कथा कहें।"

सूतजी बोले—"भगवन् ! आपने ये अति उत्तम प्रश्न किये। पहिले मैं आपको उर्वशी की उत्पत्ति की कथा सुनाकर तब उस प्रसंग को सुनाऊँगा, जिसमे उर्वशी का स्वर्ग त्याग करके पृथ्वी पर आने का वृत्तान्त है। पहिले आप उर्वशी की उत्पत्ति को दत्तचित होकर श्रवण करें।

प्रजापति धर्म मे भगवती मूर्ति के गर्भ से भगवान् नर-नारायण का अवतार हुआ। ये दोनो ही तपस्या करने हिमालय पर्वत के अन्तर्गत गन्धमादन पर्वत पर चले गये और गन्धमादन पर्वत पर, जहाँ विशालापुरी है, बदरिकाश्रम है, जहाँ शान्त जलवाहिनी भगवती अलकनन्दा बहती हैं और उनसे उष्ण जलवाहिनी भगवती अनल गङ्गा (तप्त कुंड)। उनमें मिलती हैं, उस स्थान पर जाकर घोर तप करने लगे। उन दोनो ऋषियों की तपस्या देख कर देवेन्द्र चिन्तित हुए। उन्होने अपने सखा कामदेव और मलयानिल को बुलाकर कहा—"तुम लोग गन्धमादन पर्वत पर जाकर नर-नारायण दोनो ऋषियों की तपस्या मे विघ्न करो। जिन अप्सराओं को आप चाहें, ले जायं। इन्द्र की बात सुनकर कामदेव मेनका, तिलोत्तमा, विप्रचित्ति, आदि स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सराओं को लेकर भगवान् नर-नारायण के तपोवन मे आये। दोनो भाई ध्यान मग्न थे। वहीं आकर अप्सरायें भाँति-भाँति की काम-क्रीड़ायें करने लगीं। कोई फल तोड़ने लगी, कोई पुष्प चुनने लगी, कोई हँसने लगी, कोई खेलने लगी, कोई गाने लगी, कोई नाचने लगी, कोई ताल देने लगी, साराश कि भाँति-भाँति

की क्रीडायें करके वे उन दोनों भाइयो को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रबल प्रयत्न करने लगी। उसी समय 'नर' की आँखें खुल गईं। इतनी सुन्दरी स्वर्गीय अप्सराओ को देखकर उनका चित्त चचल हो उठा। नारायण भगवान् ने भी दृष्टि उठाकर इस कृत्य को देखा। वे अपने भाई नर के मनोगत भावों को समझ गये। तुरन्त ही उन्होने आम्र की एक मञ्जरी के रस से अपने ऊरू पर एक स्त्री का चित्र अकित किया। तुरन्त ही उसमे एक अनुपम रूपलावण्य–युक्त ललना उत्पन्न हो गई। वह इतनी सुन्दरी थी, कि उसके समान सुन्दरी स्त्री देवताओ में, किन्नरों तथा साध्यों मे कही भी देखने मे नही आई। वह साकार सुन्दरता ही प्रतीत होती थी, उसकी आभा के सम्मुख स्वर्ग की समस्त अप्सरायें फीकी-फीकी सी दिखाई देने लगी। उसके सौन्दर्य को देखकर रति भी लज्जित होती थी। कामदेव का मुख फीका पड गया। उन्होंने भगवान् से क्षमा-याचना की और अप्सराओ को साथ लेकर स्वर्ग चले गये। स्वर्ग मे जाकर इन्द्र ने पूछा—"कहो भाई तुम नर—नारायण—दोनों ऋषियो के तप में विघ्न कर आये?"

इस पर काम ने कहा—"देवराज हम जीवित लौट आये, यही क्या कम है? उन ऋषियो के सम्मुख ये स्वर्ग की अप्सरायें तो अत्यन्त तुच्छ हैं। आम्र की मञ्जरी के रस से अपनी ऊरू पर चित्र बनाकर भगवान् नारायण ने ऐसी सुन्दरी अप्सरा पैदा की कि उसके समान सुन्दरी स्त्री त्रिभुवन में कोई भी नही। वही संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है।"

उसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर देवराज की इच्छा उस स्त्री-रत्न के दर्शनों की हुई। वे तुरन्त अपने विमान पर चढकर नर-नारायण की तपोभूमि बदरिकाश्रम में आये। वहाँ उन्होंने

आश्रम के समीप सौन्दर्य की घनीभूत राशि उर्वशी अप्सरा को देखा। वे उसे देखते ही अपने आप को भूल गये। आकर उन्होंने भगवान् नर-नारायण के पाद-पद्मों मे प्रणाम किया और अपने अपराध के लिये क्षमा-याचना की। भगवान् ने तो काम क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली थी। अत. इतने अपराध करने वाले इन्द्र पर भी उन्होंने क्रोध नही किया--उल्टे उनका बडा स्वागत सत्कार किया। इन्द्र की दृष्टि तो उस उर्वशी अप्सरा मे लगी हुई थी। वह मधुकरी की भांति इधर से उधर छम-छम करती हुई घूम रही थी। इन्द्र के मनोगत भाव को समझ कर भगवान् उससे बोले -"देवराज! यदि आप चाहे, तो इस अप्सरा को अपने यहाँ ले जायँ।

यह सुनकर इन्द्र के तो रोम-रोम खिल उठे। अंधे को क्या चाहिये, दो आँखें ही तो ? अत्यन्त ही नम्रता के साथ प्रसन्नता प्रकट करते हुए इन्द्र बोले— 'प्रभो! आपकी कृपा का मैं अत्यन्त ही आभारी हूँ। यह अप्सरा मेरे यहाँ की सभी अप्सराओं की मुकुट-मणि बनकर रहेगी। इसके कारण मेरे स्वर्ग की शोभा सहस्रों गुनी बढ जायगी। ऐसी श्रेष्ठ ललना तो स्वर्ग मे ही रहने योग्य है।"

यह सुनकर भगवान् ने उर्वशी को इन्द्र के लिये दे दिया। इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न होकर उर्वशी को लेकर स्वर्ग आये। उर्वशी अत्यन्त ही भोरी थी। उसे कुछ भी नाचना-गाना नही आता था अतः इन्द्र ने तुम्बरु गन्धर्व को आज्ञा दी कि वह उर्वशी को सगीत शास्त्र की सर्वोच्च शिक्षा दे। देवराज की आज्ञा पाकर तुम्बरु गन्धर्व उर्वशी को शास्त्रीय विधि से नाचना, गाना और बजाना सिखाने लगा। कुछ ही काल मे उर्वशी सगीत-शास्त्र में सभी स्वर्गीय सुर सुन्दरियों से सर्वश्रेष्ठ सगीत विशारदा बन

गई। एक दिन तुम्बरु अपनी शिक्षा की परीक्षा के निमित्त उर्वशी को इन्द्र की सभा मे लाये। और उससे नृत्य दिखाने को कहा। अपने शिक्षक की बात पाकर उर्वशी नृत्य करने को उद्यत हुई।

उस समय इन्द्र की सभा खचाखच भरी थी। उसमें देवता ऋषि, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, उरग, किंपुरुष, विद्याधर, नाग तथा मनुष्य—सभी विराजमान् थे। प्रतिष्ठानपुर के अधिपति महाराज पुरूरवा भी उस सभा में विराजमान थे। वे अपने तेज प्रभाव और योग के कारण बिना किसी अपराध के स्वर्ग चले जाते। इन्द्र उन्हे अपना आधा आसन बैठने को देते। नृत्य करते-करते उर्वशी की दृष्टि महाराज पुरूरवा के ऊपर पड़ी। वह उनके अद्भुत रूप लावण्य और शील स्वभाव को देखकर उन पर मुग्ध हो गई उसने मन ही मन उनको आत्म समर्पण कर दिया। यह उनके अनुपम रूपासव को पान करके ऐसी प्रमत्ता हो गई कि सब नृत्य कला भूल गई। उसका पैर उठता था, किन्तु उसका मन वहाँ नही था। वह अशुद्ध नृत्य करने लगी। ताल और लय को बार-बार भूल करने लगी। इस तुम्बरु को बड़ा क्रोध आया। वह सोचने लगा—"भूल यह कर रही है, देवराज क्रुद्ध मुझ पर होगे। मेरी ही सर्वत्र अपकीर्ति होगी, कि मैं इसे शुद्ध शिक्षा न दे सका। इसलिये कई बार उसने संकेत से उर्वशी को टोका, किन्तु वह अपने आपे मे तो उस समय थी ही नही। कामबाण से विद्ध होकर घायल हुई वह आत्म-विस्मृत बनी हुई थी। जब बार-बार संकेत करने पर भी उर्वशी ने नही माना, तो कुपित होकर तुम्बरु गन्धर्व ने उसे शाप दिया—"तू स्वर्गीय ललना होकर एक मर्त्यलोक के मनुष्य पर आसक्त हो गई है। जा, तुझे कुछ काल मर्त्यलोक में रहना पड़ेगा। तू जिस राजा

का चिन्तन कर रही है, उसी की पत्नी बनकर तुझे पृथ्वी पर रहना पडेगा।" उर्वशी ने इस गन्धर्व के शाप को आशीर्वाद ही माना। उसे अमृत पान की, देवताओ के स्वर्ग से अपने भ्रष्ट होने की, कुछ भी चिन्ता नही थी। वह तो अपने प्रेष्ठ को पाना चाहती थी। अतः उसने उस शाप को सहर्ष स्वीकार किया।

सभा भंग होने पर महाराज पुरूरवा इन्द्र से अनुमति लेकर अपनी राजधानी प्रतिष्ठानपुर मे आकर सुखपूर्वक रहने लगे।

उर्वशी ने जब से राजा पुरुरवा को देखा, तब से उसके मन मे उसी का रूप बस गया। निरन्तर उसी के रूप का चिन्तन करती, उसी के गुणो का स्मरण करती, उसी की बाते करती थी, उसी का बार-बार चित्र बनाती और उसे सुंदर समझकर मिटा देती। रात्रि मे सोते समय भी उसी चित्र को देखती। उसे सभी स्वर्ग के सुख तुच्छ दिखाई देने लगे, पुरूरवा के बिना उसे ससार सूना ही प्रतीत होने लगा। वह लज्जा के कारण अपनी मनोव्यथा किसी से कह भी नही सकती थी जब उससे नही रहा गया, तब उसने अपनी सहेली रम्भा के समीप आकर कहा—"सखि! यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहती हो, तो मेरे एक मनोरथ को पूर्ण करो।"

रम्भा ने अत्यन्त ही स्नेह प्रकट करते हुए कहा—"बहिन तुम स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी हो। देवराज तुम्हारे सकेत पर नाचते हैं। बडे बडे स्वर्गीय देव तुम्हारी कृपा के इच्छुक हैं। तुम्हे स्वर्गीय सभी सुख प्राप्त हैं; फिर तुम इतनी दुःखी क्यो हो? तुम्हारा मुख क्यों कुम्हलाया हुआ है? तुम्हे ऐसी कौन सी मानसिक व्यथा है? मैं अपने प्राणो का पण लगाकर भी तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करूंगी।"

उर्वशी ने कहा—"बहिन ! तुम्हारा कथन सत्य है। मुझे स्वर्ग के सभी सुख सुगमता से प्राप्त हैं। देवराज की भी मेरे ऊपर अत्यन्त कृपा है। फिर भी मेरे मन मे प्रतिष्ठानपुराधीश महाराज पुरूरवा की मनोहर मूर्ति बस गई है। मैं उस राजर्षि को पाकर ही सुखी हो सकती हूँ। उनके अंक के अतिरिक्त कोई शीतल वस्तु मेरे तन के ताप को नहीं मिटा सकती।"

रम्भा ने कहा—"देवि ! यह कौन-सी बड़ी बात है ? कहाँ पुरूरवा और कहाँ तुम ! पुरूरवा तो तुम्हारी कृपा को पाकर अपने को धन्य समझेगा। चलो, तुम मेरे साथ प्रतिष्ठानपुर चलो। मैं उस राजर्षि से तुम्हारी भेंट कराऊँगी।"

रम्भा की ऐसी बात सुनकर उर्वशी परम प्रसन्न हुई। वह छिपकर रम्भा के साथ चली। मार्ग मे उसे वीणा बजावत हरि गुण गावत, आगे से आवत, देवर्षि नारद दिखाई दिये। रम्भा और उर्वशी देवर्षि को देखकर घबरा गई। दोनो ने लज्जित होकर के देवर्षि के पाद-पद्मो मे प्रणाम किया।

उनको आशीर्वाद देकर नारदजी ने रम्भा से पूछा—"रम्भे ! आज तुम अपनी इस सहेली को साथ लिये कहाँ जा रही हो ?"

इस प्रश्न को सुनकर रम्भा घबडा गई। उसने सोचा, मैं सत्य बात कहूँगी, तो हमारी पोल खुल जायगी और झूठ बात कहूँ तो, ये सर्वज्ञ मुनि सब समझकर मुझे शाप दे देंगे। यह सब सोचकर उसने सत्य बात ही कहने का निश्चय किया। वह लजाती हुई शनैः-शनैः मुनि से बोली—"भगवन् ! आप तो सर्वज्ञ हैं। आपसे कोई क्या छिपा सकता है ? आप तो घटघट की जानने वाले हैं। प्रभो ! मेरी यह सखी प्रतिष्ठानपुराधीश महाराज पुरूरवा के रूप पर आसक्त हो गई है। उन्ही के समीप मैं इसे लिये जा रही हूँ।"

यह सुनकर नारदजी ने कहा—"देवि। महाराज पुरूरवा बड़े धर्मात्मा हैं। उनमे सभी श्रेष्ठ गुण हैं। वे उर्वशी के सर्वथा योग्य हैं। किन्तु फिर भी वे मानुप हैं, उर्वशी स्वर्गीय ललना है। अतः इसे सदा उनके समीप रहना नहीं चाहिये। कुछ काल उनके समीप रहकर इसे पुन. स्वर्ग मे आना चाहिये। इसे कुछ काल मनुष्य की पत्नी अवश्य बनना है। तुम्बरु गन्धर्व ने इसे शाप दे दिया है। तुम मेरी एक सम्मति मानो।"

रम्भा ने कहा—"आज्ञा कीजिये, भगवन्।"

नारद जी बोले—"देखो, तुम्हारी इस सखी ने पहिले ही दो मेढे पाल रखे हैं। उन्हे यह पुत्र की भाँति प्यार करती है। उन दोनो मेढो को साथ लेकर यह महाराज पुरूरवा के समीप जाय। पहिले उनसे तीन वचन ले ले, तब उनके समीप पत्नी-भाव से रहे।"

रम्भा ने पूछा—"वे तीन वचन कौन-कौन हैं?"

नारद जी बोले—'पहिला वचन तो यह ले कि राजा मेरे इन पुत्रीकृत मेढो की सदा रक्षा करें। जिस दिन इनकी रक्षा न होगी उसी दिन मै चली जाऊँगी। दूसरा वचन यह ले कि मैं घृत को छोड़कर दूसरी वस्तु न खाऊँगी। और तीसरा वचन यह ले कि मैथुन के अतिरिक्त राजा को मैं कभी नग्न न देखूँगी। मेरे इन तीनो वचनो मे से जिस दिन एक भी भग हो जायगा, उसी दिन मैं राजा को छोड़कर चली जाऊँगी।"

नारद जी की बात सुनकर रम्भा ने कहा—"भगवन्! मेरी सखी आपकी आज्ञा का सर्वथा पालन करेगी। आप ऐसा आशीर्वाद दें कि मेरी सखी की मनोकामना पूर्ण हो, तत्पश्चात् वह पुन. स्वर्ग मे पूर्ववत् ही पूजित हो।"

नारदजी ने कहा—ऐसा ही होगा।" इतना कहकर नारदजी

तो वीणा के तारो की झङ्कार करते हुये ब्रह्मलोक चले गये। इधर रम्भा तुरन्त उर्वशी के इन दो भेदा को ले आई। उन्हे लेकर वे दोनो गंगा–यमुना के सगम पर अवस्थित प्रतिष्ठानपुर को पहुँची।

प्रतिष्ठानपुर चन्द्रवशीय महाराज ऐल पुरूरवा की सुप्रसिद्ध राजधानी थी। पश्चिम की ओर गगा जी ही उस नगरी की परिखा थी। पचयोजन लम्बी वह नगरी विश्व मे विख्यात थी। उसके चारो ओर परकोटे बने हुए थे। गगाजी में से एक कृत्रिम जल धारा निकाल कर नगरी के तीनो ओर घुमाई गई थी। मानस तीर्थ से एक धारा निकलकर नगर के परकोटे के बाहर-बाहर घुमाकर दुर्वासा के समीप पुन श्री गंगाजी की धारा मिला दी गई थी। इससे वह पुर गगाजी के मध्य मे एक टापू के समान दिखाई देता था। चारो दिशाओ मे उसके चार बडे-बडे द्वार थे। उन पर काठ के पुल बने हुए थे। वे चाहे जब उठा लिये जाते थे। प्रधान द्वारा इतने ऊँचे और कलापूर्ण बने हुए थे, कि वे दूर से सुमेरु के चार शिखर के ही समान दिखाई देते थे। परकोटे के भीतर नगर के चारों ओर सुन्दर वन उपवन उद्यान और क्रीडा–गृह थे। उनमे सुन्दर सुन्दर पुष्प और फलो के वृक्ष थे। उनके बीच बीच मे सुन्दर-सुन्दर छोटे बडे सरोवर थे, जिनमे भाँति-भाँति के कमल खिले हुए थे, जिनमे नगर के सभी श्रेणी के स्त्री-पुरुष क्रीडा कर रहे थे। वहाँ के राजपथ विस्तृत और स्वच्छ थे। उनके उभय पार्श्वों मे सुन्दर सघन वृक्ष लगे हुए थे। चौराहों पर सुन्दर–सुन्दर पुष्पो की क्यारियाँ लगी हुई थी जिनमें रंग-विरंगे पुष्प खिले हुए थे। नगर के तृतीय परकोटे मे भाँति भाँति की दूकानें लगी हुई थीं। जो वस्त्रों की हाट थी, उसमे वस्त्र बेचने वाले व्यापारी थे। बडी बडी

कोठियो मे चित्र विचित्र वस्त्रों को फैलाये वस्त्र-व्यापारी बैठे हुए थे। मणि-माणिक्य तथा हीरे-मोतियो का बाजार पृथक् था। आभूषणों के हाट में बहुमूल्य सुवर्ण-चान्दी आदि के आभूषण बिक रहे थे। अन्न के हाट, भोजन पदार्थों के हाट, शाक-भाजी के हाट, मिर्च मसाले के हाट धातु पात्रो के हाट, मिट्टी, पत्थर, काठ, काँच आदि के पृथक्-पृथक् हाट थे। रम्भा के साथ उर्वशी स्वर्ग की अमरावती से भी सुन्दर उस प्रतिष्ठानपुरी को देखती हुई राजा के भवनो की ओर चली। राजा के ऐसे वैभव को देख कर उर्वशी मन ही मन प्रसन्न हो रही थी, नगरी की अलौकिक शोभा देखती-भालती उस राजा के महलों मे पहुँची। महलो के भीतर एक अत्यन्त सुन्दर वाटिका थी, जिसमें राजा तथा अन्त - पुर की स्त्रियाँ मनोविनोद के लिये आती थीं। उर्वशी रम्भा के साथ उसी वाटिका मे पहुँची। उस समय सन्ध्या होने मे दो घडी की देर थी। रम्भा एक अत्यन्त सुन्दर लताकुंज में उर्वशी के साथ जा कर बैठ गई। उर्वशी राजा के लिये अत्यन्त ही अधीर हो रही थी। रम्भा ने सोचा—"राजा से अभी भेंट तो हो नही सकती। रात्रि मे एकान्त होने पर जब महाराज इस वाटिका मे आवेंगे, तभी उनसे भेंट हो सकेगी। तब तक मैं अपनी सहेली का किसी प्रकार मनोरंजन करूँ।" यह सोच कर रम्भा बोली—"बहिन उर्वशी! देखो, यह वाटिका दूसरी उर्वशी के समान है। यह तुम्हारी सपत्नी है। इससे तुम बच कर रहना।"

उर्वशी ने कहा—"रम्भे! तुम इस वाटिका को मेरी सपत्नी क्यो बता रही हो? मेरी और इसकी क्या बराबरी?"

रम्भा ने कहा—"बहिन! मै तो देखती हूँ, यह तुम्हारे ही समान गुणवाली है। तुम भी सुन्दरी हो यह वाटिका भी सुन्दर

है। तुम्हारे अंगों के साथ इसके भी पत्र-पुष्प और वृक्षों का सादृश्य है।" .

उर्वशी ने पूछा—"मेरे अंगो से इसका सादृश्य कैसे है?"

रम्भा बोली—"देखो बहिन! इस वाटिका में चम्पा कैसी खिल रही है। जैसा तुम्हारे शरीर का वर्ण है वैसा ही इस चम्पा के पुष्पों का वर्ण है। इसके समप ही जो यह छोटा सा अनार का वृक्ष है, उस पर जो ये लम्बे-लम्बे पुष्प लगे हुए हैं वे तुम्हारे ओष्ठों की भाँति लाल-लाल हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानों यह दाडिम-द्रुम पुष्पों के रूप में तुम्हारे अधरों की श्री को धारण किये हुए है। यह जो सहकार आम्र की लम्बी-लम्बी मंजरियाँ हैं, वे ऐसी लगती है, मानो काम-बाण लटक रहे हो। ये जो मधूक-महुए के लोल-लोल गोल-गोल रस भरे पुष्प है, वे मानो तुम्हारे कपोलों की श्री को बिखेर रहे हो, मधूक के समीप ही जो यह लम्बा सा ताल वृक्ष खड़ा है, उसके गोल-गोल कठोर फल तुम्हारे पीन पयोधरो की आभा को धारण किये हुए है। इस वाटिका के समीप जो ये कदली के वृक्ष खड़े हैं, वे तुम्हारे ऊरू-द्वयो के समान ही गोल और चिकने हैं। यह जो अविमुक्तक फूली हुई लता है, जिस पर इतने भ्रमर पंक्ति-बद्ध बैठे है, भ्रमरो से लदी हुई वे डालियाँ जब वायु से हिलती हैं, तब ऐसी प्रतीत होती है, मानों तुम्हारी काली-काली घुंघराली लटकती हुई लटायें हिल रही हों। ये जो कुन्द के शुभ्र खिले हुए पुष्प है, उन्हें मानों विधाता ने तुम्हारी दन्त-पक्तियो की श्री से खिला दिया हो। इस सरोवर मे जो सुन्दर-सुन्दर कमल के पुष्प खिल रहे हैं, वे तुम्हारी आँखो के समान सुन्दर, मृदु और विकसित हो रहे हैं। इन सौवर्ण कमलों के केशर की गन्ध तुम्हारी नासिका की गन्ध के सदृश तो है नहीं, किन्तु उसी की जाति की प्रतीत होती है। इस नलिनी

के तीर पर भ्रमण करने वाली हंसिनियो ने तुम्हारी गति को चुरा लिया है। इस आम्रवृक्ष पर बैठी हुई कोकिला तुम्हारी वाणी का अनुकरण कर रही है। यद्यपि वह सफल नही होती, फिर भी तुम्हारी वाणी मे और इसकी वाणी में सादृश्य है। यह जो वाटिका मे कृत्रिम सरिता बनाई गई है, उसका सलिल पिघली हुई काँच के समान उसी प्रकार निर्मल है, जिस प्रकार तुम्हारा हृदय निर्मल है।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! इसी प्रकार की बातें करती हुई, रम्भा अपनी सखी उर्वशी का मनोरंजन करती रही। इन बातो मे उसे इस बात का भी पता न चला कि कब भगवान् भुवन-भास्कर अस्ताचल की कन्दरा मे छिप गये। सूर्य को सन्ध्या के अञ्चल मे मुँह छिपाते देखकर रम्भा उर्वशी से बोली—'बहिन ! देखा सूर्यनारायण कितने दयालु हैं ! तुम्हे अपने प्रियतम से मिलने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित देखकर वे स्वय अपनी प्रिया के रक्तवर्ण के अचल मे छिप गये। अब तुम शीघ्र ही ससार के सर्वश्रेष्ठ सुन्दर भूपति प्रतिष्ठानपुराधीश महाराज पुरूरवा के दर्शन करोगी। सामने वह देखो, महाराज अपने सखा के सहित इधर ही आ रहे हैं इस समय इनसे भेंट करना उचित नही। सम्मिलन तो एकात मे होता है। दूसरे आदमी के सम्मुख अपने आन्तरिक गम्भीर रहस्य-मय भाव व्यक्त नही किये जा सकते। अत अभी हम इनके सम्मुख न हो छिपकर इन दोनो की बातें सुनें ये क्या बातें करते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ऐसा निश्चय करके वे दोना छिपकर राजा की बातें सुनने लगी।"

छप्पय

वन-उपवन-सर-हाट-बाट विस्मित ह्वै कें अति।
निरखै इत-उत चकित भट्ट भूली अमरावति॥
लै रम्भा कूँ संग उर्वशी पहुँची पुरमहँ।
प्रतिष्ठानपुर निरखि भई प्रमुदित अति उरमहँ॥
पल पल भारी है रह्यो, बनी अमरिका रूप की।
महल बाटिकामहँ सखी, करें प्रतीक्षा भूप की॥

उर्वशी का पुरूरवा से साक्षात्कार

[७२३]

मित्रावरुणयोः शापादापन्ना नरलोकताम् ।
निशम्य पुरुषश्रेष्ठं कन्दर्पमिव रूपिणम् ॥
धृतिं विष्टभ्य ललना उपतस्थे तदन्तिके ॥*
(श्री भा० ९ स्क० १४ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

आवत निरखे नृपति सखा-सँग अति हरषाई ।
किन्तु न लखि एकान्त भूप-सम्मुख नहिँ आइ ॥
नृपति मनोगत भाव जानिबे कूँ छिपि उत-इत ।
सुनैं करें जो बात सखा तैं नृप विह्वल चित ॥
चित्त उर्वशीमहँ फँस्यो, नृपको रम्भा जानिकें ।
आई सम्मुख सखी संग हरषे नृप पहिचानिकें ॥

जिसका जिसके साथ संयोग होना होता है, वह किसी-न-किसी रूप में अवश्य हो जाता है। जिस बात को हम असभव

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उर्वशी को मित्रावरुण का शाप था।" इसी कारण वह मर्त्यलोक में आई। महाराज पुरूरवा को कामदेव के समान रूपवान सुनकर उसने धैर्य धारण किया और वह ललना प्रतिष्ठानपुर में उनके समीप आकर उपस्थित हुई।"

समझते है, प्रारब्ध-वशात् वह संभव हो जाती है। स्वर्ग मे हो, मर्त्यलोक मे हो या पाताल मे सभी प्रारब्ध के वशीभूत होकर एक दूसरे से मिलते और पृथक् होते हैं। जब-जैसा होना होता है, तब तैसा ही शाप या आशीर्वाद समर्थ पुरुषो द्वारा प्राप्त होता है। कोई न किसी को शाप दे सकता है; न किसी पर अनुग्रह ही कर सकता है। जब जैसा होने को होता है, तब वैसा ही वचन महापुरुषो के मुख से निकल जाता है। इसलिये किसी बात को असभव सहसा न समझना चाहिये। प्रकृति मडल मे सबका काल निश्चित होता है। उस समय वैसा ही बानक बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तुम्बरु और मित्रावरुण के दुहरे शापो से शापित होकर, पुरूरवा के रूप पर आसक्त होकर, उर्वशी अपनी सखी रम्भा के साथ आई।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! तुम्बरु के शाप की बात तो आपने सुनाई, किन्तु मित्रावरुण ने उर्वशी को क्यों शाप दिया, इसका कारण तो आपने बताया ही नही। कृपा कर इस कथा को भी सुनाकर तब आगे की बात बतावें।"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाराज! जैसा होना होता है, वैसा ही संयोग बन जाता है। जिस दिन उर्वशी ने स्वर्ग मे महाराज पुरूरवा को देखा और उनके रूप पर आसक्त हो गई, उसी दिन उसे मित्रावरुण ने बुलाया था। उसने जाना स्वीकार भी कर लिया था, किन्तु वह उस दिन पुरूरवा के रूप चिन्तन मे ऐसी विह्वल हो गई थी, कि सब कुछ भूल गई। इस पर उन दोनो को क्रोध आ गया। उन्होंने शाप दिया—"तू जिस मर्त्य-लोक के राजा का चिन्तन करती जा रही है, कुछ दिन तुझे स्वर्ग छोडकर पृथ्वी पर उसी राजा के अन्तःपुर मे रहना पडेगा।" यही कारण है कि उसका चित्त इतना अधिक व्याकुल हो गया,

कि उसे स्वर्ग का सौन्दर्य नरक के समान दिखाई देने लगा। उसे छोड़कर वह अपनी सखी रम्भा के साथ प्रतिष्टानपुर मे आई और छिपाकर उपवन मे टहलते हुए राजा की बातें सुनने लगी।"

इधर जब से महाराज पुरूरवा स्वर्ग से उर्वशी को देखकर लौटे; तब से उन्हें खाना-पीना कुछ भी अच्छा नही लगता था। वे रात्रि-दिन उर्वशी की ही चिन्ता करते रहते थे। उनका शरीर कृश हो गया, राज-काज उन्होने छोड दिया था। उनका मन बार-बार कहता—"उर्वशी स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा है। वह बडे-बडे देवताओं को भी दुर्लभ है। उसे पाने के लिये मनोरथ करना पागलपन है किन्तु फिर भी उनका हृदय मानता नही था। वे निरन्तर उसी को सोचते रहते थे। आज वह अपने अंतरङ्ग सखा के साथ मनोरञ्जन के लिये वाटिका मे आये थे। टहलते टहलते सखा ने राजा से पूछा—"राजन्! एक बात मैं बहुत दिनो से पूछना चाहता था, किन्तु संकोचवश पूछ न सका। आज्ञा हो तो अब पूछूँ।"

राजा ने कहा—"सखे! संकोच की कौन-सी बात है! तुमसे तो कोई छिपाव वाली बात नही। तुम्हे जो कुछ पूछना हो, वह प्रसन्नता पूर्वक पूछो।"

सखा ने कहा—"राजन्! जब से आप स्वर्ग से लौटे हैं, तभी से निरन्तर आपको अन्यमनस्क सा ही देख रहा हूँ। आपके मुख की कान्ति क्षीण हो गई है। शरीर पीला पड गया है, कपोल पिचक गये हैं, आँखें भीतर घुस गई चलने मे भी आप लडखडाते हैं, किसी से विशेष बातें भी नही करते, राजकाज भी बहुत मनोयोग से नही देखते। आपके इस परिवर्तन का कारण क्या है? आपके हृदय मे कौन सी चिन्ता है? क्यों आपको अशन वसन और

आनन्द विहार के कार्यों में उत्साह नहीं ? आपके अन्तःकरण मे कौन सी चिन्ता घुस गयी है ? यदि गोप्य न हो और मुझसे कहने मे कोई हानि न हो, तो अवश्य ही मेरे इन प्रश्नो का उत्तर दें।"

सखा की बात सुनकर राजा कुछ देर मौन रहे और फिर शनैः-शनैः बोले— 'सखे ! तुमसे छिपाने योग्य तो कोई बात नहीं, किन्तु तुम मेरे मनोरथ को सुनकर हँसोगे, मुझे पागल समझोगे। इसी संकोच से मैंने आज तक तुमसे वह बात नहीं कही। अब जब तुमने पूछो ही है, तब मैं वह बात तुम्हे बताता हूँ। इस बार जब मैं स्वर्ग गया, इन्द्र की सभा मे उर्वशी अप्सरा को देखा। उसे देखते ही मेरा मन खो गया। मैं बिना मन का हो गया। मैंने अपने मन को बार-बार समझाया, कि यह स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा है, बडे-बडे देवताओ के लिये भी दुर्लभ है इसकी इच्छा करना उसी प्रकार हास्यास्पद है, जिस प्रकार बौने का चन्द्र को प्राप्त करना। फिर भी मेरा मन नही मानता। मैं उसी की स्मृति मे आत्मविस्मृत सा बना रहता हूँ। उसका त्रैलोक्य सुन्दर रूप मेरी आँखो मे बस गया है, हृदय मे समा गया है। उसे जितना ही निकालने का प्रयत्न करता हूँ, वह उतना ही भीतर धँसता जाता है। क्षणभर को भी उसका रूप मेरे चित्त से हटता नहीं। वह मन्द-मन्द मुसकाने वाली सुर ललना जब तक मुझे प्राप्त नही होती, तब तक मेरी यही दशा रहेगी। उसके बिना मैं जीवित नही रह सकता।"

सखा ने कहा—"राजन् ! आप इतने अधीर न हों। जिस का जिस पर सत्य स्नेह होता है, वह अवश्य ही एक न एक दिन प्राप्त होता है। उर्वशी भी आपको कभी न कभी प्राप्त होगी।"

राजा बोले—"सखे ! कल रात्रि मे मैंने एक अद्भुत स्वप्न देखा। यदि मेरा वह स्वप्न सत्य हो जाय, तो मेरे समस्त मनोरथ पूर्ण हो जायँ, मैं ससार मे कुछ दिन और जीवित रह सकूँ।"

सखा ने पूछा—"प्रभो ! आपने क्या स्वप्न देखा ? कृपा कर के उसे मुझे सुनाइये।"

राजा ने कहा—"सखे ! मैंने स्वप्न मे देखा कि मैं अत्यन्त व्याकुल होकर मनोरञ्जन के निमित्त इसी वाटिका मे आया हुआ हूँ। यहाँ मुझे चन्द्रकान्तगृह मे उर्वशी प्राप्त हो गई है। किन्तु स्वप्न की बात का क्या विश्वास ? यदि मेरा यह स्वप्न सत्य हो जाय, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ।"

सखा ने कहा—"प्रभो ! आप स्वस्थ हो। चिन्ता न करे, विषाद का त्याग दे। आपका मनोरथ अवश्य पूरा होगा, उर्वशी आपको अवश्य प्राप्त होगी। चलिये चन्द्रकान्तगृह मे चलें। वहो आप कुछ देर मनोरञ्जन करके चित्त को प्रसन्न करें।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! सखा के वचन सुनकर काम-बाणो से घायल हुए राजा समीप के ही चन्द्रकान्त गृह मे गये। वहाँ शीतल मणियो की शिला पर बैठकर चन्द्रमा की ओर देखने लगे। 'उन्हें चन्द्रमा की अत्यन्त शीतल किरणें जला रही थी। वे उर्वशी के रूप का स्मरण करके विरहाग्नि मे तप्त हुए लम्बी-लम्बी साँसें ले रहे थे।

इधर जब रम्भा और उर्वशी ने राजा की बातें, सुनी तो वे अत्यन्त ही प्रसन्न हुई। रम्भा ने कहा—"बहिन तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हुआ। मैं तो समझती थी, तुम ही राजा के ऊपर आसक्त हो, किन्तु अब यहाँ आकर मैं देखती हूँ, राजा तो तुम

से भी अधिक विह्वल हैं । तुम्हारे लिये वे अत्यन्त व्याकुल हैं । राजा से साक्षात्कार करने का यही उपयुक्त अवसर हैं । चलो, चल, राजा के दर्शन करें ।"

रम्भा की बात सुनकर मन में अत्यन्त प्रसन्न होती हुई, लज्जा के साथ शनैः-शनैः उर्वशी उसके पीछे-पीछे चली । राजा के समीप जाकर दोनों ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज की जय हो ! जय हो !"

अपने सम्मुख रम्भा के साथ उर्वशी को देखकर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा वे संभ्रम के साथ अपने आसन से

उठ पड़े और अत्यन्त ही अनुराग भरे स्वर में बोले—"हे स्वर्ग

की चिन्तामणि ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। आज मेरा जन्म सफल हुआ, आज मेरे पुण्यो का प्रत्यक्ष फल मुझे मिल गया जो, आज मैं अपने भवन मे ही स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ ललना के दर्शन कर रहा हूँ। आप स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी ललना हैं। सहस्राक्ष इन्द्र अपनी सहस्रो आँखो से भी आपके रूपासव का पान करते हुए तृप्त नही होते। पुण्यहीन प्राणी आपके दर्शन भी प्राप्त नही कर सकते। आप इस मणि-जटित आसन पर विराजकर मुझे कृतार्थ करें। मैं मर्त्यलोक का प्राणी आपका स्वागत किस प्रकार कर सकता हूँ।"

रम्भा ने कहा—"राजन् ! आपकी स्नेह भरी वाणी ही सर्वश्रेष्ठ आतिथ्य है।"

राजा ने पूछा—"देवि ! मैं यह जानना चाहता हूँ, कि आप स्वर्ग के विपुल वैभव को छोडकर इस मर्त्यलोक मे किस कारण आई हैं। मैं आपके शुभागमन का कारण सुनना चाहता हूँ।"

रम्भा ने कहा—"देव ! जब आप स्वर्ग पधारे थे, तब इन्द्र की सभा मे मेरी सखी ने दर्शन किये थे। जब से इसने आप के अनुपम सौन्दर्य को निहारा है, तब से इसे स्वर्ग का वैभव तुच्छ दिखाई देने लगा। यह रात-दिन आपके ही रूप का चिन्तन करती रहती है। आपके वियोग मे इसने अशन वशन, शयन तथा मनोरञ्जन के सभी कार्यों का परित्याग कर दिया है। सदा आपका ही स्मरण करती है। आप मेरे ऊपर कृपा करें और इसे अपनावे।"

राजा ने अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"देवि ! मैं आज धन्य हुआ ! देवी उर्वशी मुझसे स्नेह करती है, इससे बढकर मेरे लिये सौभाग्य की और कौन-सी बात हो सकती है ?

आपकी सखी मुझे अपना आज्ञाकारी अनुचर ही समझे। मैं सब तरह आप की सखी की सेवा करूँगा।"

रम्भा ने कहा—"राजन् ! आप पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ भूपति हैं। आपको पाकर मेरी सखी धन्य हो जायगी। फिर भी महाराज ! मेरी सखी साधारण मर्त्यलोक की स्त्रियों के सदृश आपके साथ नहीं रह सकती। इसके रहने के कुछ नियम हैं। उन नियमों के पालन का आप वचन दें। तो यह कुछ काल आपकी पत्नी बनकर आपके अन्त:पुर में रह सकती है।"

यह सुनकर राजा ने कहा—'देवि ! मेरा राज-पाट, धन-धान्य तथा यह शरीर—सभी आपकी सखी के अधीन हैं। प्राणों का पण लगाकर भी मैं इन्हें प्रसन्न कर सकूँ, तो हँसते-हँसते प्राणों को समर्पित करने के लिये उद्यत हूँ। आप मुझे अपनी सखी के रहने के नियम बताइये।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! राजा की बात सुनकर उर्वशी की ओर से रम्भा ने राजा के सम्मुख वे नियम रखे जिनके पालन होने तक उर्वशी राजा की पत्नी के रूप में रह सकती थी। जिस दिन एक भी नियम भङ्ग हो जायगा, उर्वशी राजा को छोड़कर स्वर्ग चली जायगी। उन नियमों को मैं आगे आपको सुनाऊँगा।"

छप्पय

करि स्वागत नृप कहें–आजु हौं भयो कृतारथ।
पृथिवीपति नरदेव नाम मम भयो जथारथ॥
देवि उर्वशी, देखि चन्द्रमुख तव हौं हरष्यो।
मनहुँ मृतक द्रुम उपरि सुधारस बरबस बरस्यो॥
प्रान-दान दयिता दयो, दुरलभ दरश दिखाइकें।
जनम सफल मेरो करो, अनुचर मोंहि बनाइकें॥

उर्वशी पुरूरवा की पत्नी बनी

[७५४]

अहो रूपमहो भावो नरलोकविमोहनम् ।
को न सेवेत मनुजो देवीं त्वां स्वयमागताम् ॥
तया स पुरुषश्रेष्ठो रमयन्त्या यथार्हतः ।
रेमे सुरविहारेषु कामं चैत्ररथादिषु ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १४ म० २३, २४ श्लो०)

छप्पय

कहे उरवशी—"देव ! कौन ललना जग माहीं ।
जो लखि तुम्हरो रूप होहि बरबस वश नाहीं ॥
प्यारे पुत्र समान मेष बालक द्वै मम सँग ।
पालन तिनिको करहि न रति तजि लखहुँ नगन अँग ॥
घृत को भोजन करहुँ नित, दुख-सुख सब कछु सहुङ्गी ।
प्रन यदि पूरे भये नाहिँ, तो न यहाँ फिरि रहुङ्गी ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं—"राजन् ! उर्वशी के प्रस्ताव करने पर महाराज पुरूरवा ने कहा—"अहो देवि ! आप का यह मनुष्यों को विमोहित करने वाला रूप और भव्य भाव कैसा कमनीय है ? भला संसार में ऐसा कौन पुरुष होगा, जो अपने आप आई तुम जैसी सुर-सुन्दरी का सेवन न करेगा ?"

उत्कठा ही आनन्द की वृद्धि मे प्रधान कारण है। जो वस्तु जितनी ही अधिक उत्कठा से सुदीर्घ प्रतीक्षा के बाद प्राप्त होती है, उसमे उतना ही अधिक सुख मिलता है। जिसके सयोग से जितना सुख मिलता है उसके वियोग मे उतना ही दु ख भी। इसलिये उत्कठा ही सुख दु ख की अभिवृद्धि मे हेतु है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब रम्भा ने उर्वशी के भावों को व्यक्त किया, तब राजा ने कहा—'मै सब प्रकार के वचन देने को सब प्रकार की प्रतिज्ञा करने को, तत्पर हूँ।"

यह सुनकर रम्भा के बार-बार प्रेरणा करने पर सकुचाती हुई उर्वशी बोली—"देव! आपके विश्व-विख्यात गुण, आपका अनवद्य सौन्दर्य अग्निशिखा के समान है। इस पर पतगिनी-रूपी कौन-सी नारी अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर न होगी? कामिनियो को वही पुरुष श्रेष्ठ, अत्यन्त प्रिय, होता है, जो गुण-ग्राही हो, रति-प्रिय हो और सरस हृदय वाला हो। आप मे ये सभी गुण विद्यमान है। इसलिये मै स्वर्ग के ऐश्वर्य का परित्याग करके आपके पास रमण करने यहाँ आई हूँ। किन्तु मेरे कुछ निमम हैं।"

राजा ने कहा—"मैं उन नियमो को ही सुनने को तो उत्सुक हूँ।

उर्वशी ने कहा—"मेरे नियम कोई कठोर नही। केवल तीन साधारण नियम हैं। पहिला नियम तो आपके साथ यह है कि-ये मेरे दो मेढे के बच्चे हैं। इनका मैंने पुत्र की भाँति पालन किया है। ये मुझे अत्यन्त प्रिय हैं; इनका पालन आप को सदा करना पडेगा। कोई इन्हे अपरण न कर ले जाय। दूसरा नियम यह है कि मैं स्वर्ग की अप्सरा हूँ। वहाँ मेरा भोजन अमृत ही था। पृथ्वी का अमृत घृत ही है। अतः घृत को छोडकर में कोई दूसरा

आहार न करूंगी। आप मुझे और कोई वस्तु खाने के लिये विवश न करें। तीसरा नियम यह है कि रति-काल को छोड़कर आप मेरे सम्मुख कभी विवस्त्र होकर न आवेंगे। इन नियमों का आप जब तक पालन करेंगे, तब तक तो मैं आपके साथ रहूँगी। जिस दिन आपके द्वारा एक भी नियम का उल्लघन होगा, उसी दिन मैं यहाँ से चली जाऊंगी।"

राजा ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"देवि! ये तो अत्यन्त साधारण नियम हैं। मै अपने धनुष बाण से सदा तुम्हारे मेढे के बच्चे की रक्षा करता रहूँगा। घृत की मेरे यहाँ कमी नही। आप चाहे जितना घृत खायें। मैं विवस्त्र होकर कभी आप के समुख आऊंगा नही। मै प्रतिज्ञा करता हूँ इन नियमो का मैं भलोभाँति तत्परता से पालन करूंगा। अब तुम मुझे अपनाओ। तुम्हारे अलौकिक रूप-लावण्य, पवित्र भाव समस्त मानव-समाज को मोहित करने वारने वाले हैं। बडे-बडे देवता तुम्हारे दर्शनो के लिये सहस्रो वर्षो तक घोर तपस्या करते हैं। ऐसी तुम साक्षात् सुकृत-रूप स्वय ही मेरे समीप आई हो, फिर मैं तुम्हारा परित्याग कैसे कर सकता हूँ? अब देर करने का काम नही है।"

राजा के ऐसा कहने पर रम्भा और उवशी दोनो ही परम प्रमुदित हुई। उवशी के प्यारे मेढे के बच्चे रम्भा की गोद मे थे। वह उन दोनो बच्चो को राजा की गोद मे देती हुई बोली—'राजेन्द्र! आप इन बच्चो की रक्षा सावधानी से करें। मेरी सखो को कोई कष्ट न होने पावे। आप इसके मन को कभी बिगाडे नही। सर्वथा ऐसी चेष्टा करते रहें, जिससे यह मेरी अन्य सखियो की, स्वर्ग के सुखो की उत्कंठा न करे।

राजा ने कहा—"देवि तुम निश्चिन्त रहो। जैसे आखो की पुतलियो की रक्षा पलक करते हैं, वेसे ही मैं तथा मेरे सभी

आश्रित तुम्हारी सखी की रक्षा करेंगे। ये जो भी मनोरथ करेंगी उसे प्राणों का पण लगाकर मैं पूरा करूँगा।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करती हुई रम्भा बोली—"राजन्! य वचन आपके ही अनुरूप हैं। भगवान् आपका मगल करें! अब आप मुझे आज्ञा द। मुझे इसी समय लका जाना है। वहाँ मेरे प्राणेश्वर कुवेर के पुत्र नल-कूवर मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। वे मेरे लिये उत्कण्ठित हो रहे होंगे। आप अपने वचनों को भूलें नहीं।"

राजा ने कहा— देवि! आप सुखपूर्वक लका जायँ। उपहार-स्वरूप ये रत्न मेरी प्रसन्नता के निमित्त ग्रहण करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यद्यपि रम्भा को रत्नों की इच्छा नहीं थी, समस्त सम्पत्ति क स्वामी कुवेर के पुत्र जिसके प्रेष्ठ हों, उसके सम्मुख मर्त्यलोक के रत्नों का महत्व ही क्या! फिर भी राजा की प्रसन्नता के निमित्त उसने पुरूरवा के दिये हुए रत्नों को सादर ग्रहण किया। फिर अपनी सखी उर्वशी को भाँति-भाँति से समझाकर, उसम हृदय स हृदय मिलाकर आकाश मार्ग से लका की ओर चली गई।

इधर राजा पुरूरवा उर्वशी के सग नाना भाँति की काम-केलि करने लगे। उन्होंने राज्य का समस्त भार मन्त्रियों के ऊपर छोड दिया। अब व रात-दिन उर्वशी के साथ ही रहकर उसे अनेक उपायों से प्रसन्न करने लगे। जिस प्रकार लक्ष्मी नारायण के साथ, रति काम के साथ शची इन्द्र के साथ तथा सती शकर के साथ सुखपूर्वक क्रीडा करती हैं, उसी प्रकार उर्वशी पुण्यश्लोक महाराज पुरूरवा क साथ सुखपूर्वक आनन्द-विहार करने लगी।

राजा उसे लेकर बडे-बडे मणि जटित महलों में, पुष्प गृहों में, वनों के बने आवासों में क्रीडा करने लगे। कभी वे उसे

लेकर सुंदर-सुंदर पर्वतो पर चले जाते, कभी उसे नदी के पुण्य पुलिनो में ले जाते, कभी फल-पुष्पो से लदे वनों में घुमाते, कभी सुहावने सरोवरो के तट टहलाते। वे उसका स्वय ही भांति-भांति से शृंगार करते, बहुमूल्य वस्त्राभूषणो को पहिना कर सजाते। उसके उत्तम अंगों पर पत्रावली बनाते, उसके काले-काले कुटिल केशों मे कुसुम लगाकर उन्हे विधिवत् बाँधते, सुगन्धित द्रव्यो से उसे मंडित करते, उसकी प्रत्येक आज्ञा का अविलम्ब पालन करते। उसके अधरामृत का पान करके वे आत्म विस्मृत हो जाते। वह उन्हे नित्य ही नयो-नयो दिखाई देती थी। राजा ज्यो-ज्यो उसे निहारते, त्यो-ही-त्यो अत्यन्त उत्कंठित होते जाते। वह अप्सरा प्रतिदिन राजा के काम को बढ़ाती रहती। उस अप्सरा के रूप-जाल मे राजा ऐस फँस गये कि वे लोक-परलोक-दानो को ही भूल गये। कब दिन होता है, कब रात होती है, इसका राजा को कुछ भी पता नही चलता। इसी बीच उर्वशी के गर्भ से आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय और विजय, पाँच पुत्र हुए। पाँच पुत्रों को पैदा करके उर्वशी ज्यो की त्यो बनी रही। राजा को इस पर अधिकाधिक आसक्ति बढती जाती थी। इतने दिन निरन्तर संयोग के पश्चात् अब वियोग का समय आया; क्योंकि सृष्टि का नियम है कि जन्म मरण के लिये होता है, उन्नति अवनति के लिये और संयोग वियोग के लिए। उर्वशी के बिना स्वर्ग सूना-सूना-सा दिखाई देता था। अतः इन्द्र ने गन्धर्वों को उर्वशी को लाने के लिये प्रेरित किया। वे उर्वशी को पृथ्वी से स्वर्ग लाने के लिये गुप्त रूप से षड्यन्त्र करने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! गन्धर्वों ने क्या षड्यन्त्र किया?"

सूतजी कहते हैं—"महाराज! सुनिये, मैं उस षड्यन्त्र को सुनाता हूँ।"

छप्पय

सब स्वीकारे नियम उरवशी नृप अपनाये।
पाइ ऐल सुरवधू हियेमहँ अति हरषाये॥
सचिवनि शासन सौंपि प्रिया सँग ह्वै प्रमुदित अति।
वन उपवन गिरि निकट नदी-तट बिहरहिं भूपति॥
जने पाँच सुत अप्सरा, आयु श्रुतायु सतायु रय।
सब सुन्दर सब सर्वविद्, भये पाँचवें सुत विजय॥

द्वन्द का ही नाम जगत है, निर्द्वन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है। द्वन्द्व नहीं, जगत् नहीं, उत्पत्ति नहीं, सृष्टि नहीं, संसार नहीं। सयोग साथ वियोग लगा है, सुख के साथ दुःख, जीवन के साथ मरण पाप के साथ पुण्य, धर्म साथ अधर्म—इसी प्रकार सब में द्वन्द्व लगा है। जो इस द्वन्द्व के रहस्य को समझते हैं, वे कभी दुःखी नहीं होते, वे अमर हो जाते हैं। जो द्वन्द्व को सत्य कमझकर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते है वे इस संसार में ही घूमते रहते हैं, जन्म-मरण के चक्कर से छूटते नहीं।

सूतजी कहते हैं —"मुनियो! जिसकी कामना बड़े-बड़े देवता भी करते हैं और उन्हें भी जो सरलता से प्राप्त नहीं हो सकती, उस सुर सुन्दरी स्वग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी को प्राप्त करके महाराज पुरूरवा उसके साथ देवताओं के क्रीडा स्नान नन्दन-कानन, चैत्ररथादि दिव्य वनो मे यथेच्छ क्रीडा करते हुए, सुख-पूर्वक विचरण करने लगे। कमल की, केसर की सी कमनीय गन्ध जिसके अंग से निरन्तर निकलती रहती है, उस कमल लोचना कामिनी के साथ आनन्द विहार करते हुए महाराज पुरुरवा उसके मुख की मीठी-मीठी मादक सुवास को सूंघने के कारण आत्म विस्मृत बने, अनेको वर्षों को क्षण के समान सुख पूर्वक बिताते रहे।"

स्वर्ग की शोभा तो उर्वशी से ही थी। उसके बिना स्वर्ग सूना सूना सा दिखाई देने लगा। देवराज इन्द्र ने गन्धर्वों को बुलाकर कहा—"तुम लोगो ने यह क्या अनर्थ कर डाला ? उर्वशी को शाप देकर मर्त्यलोक भेज दिया ? अब जैसे हो, तैसे उसे मर्त्यलोक से यहाँ लाओ, नहीं तो तुम्हारा कल्याण नहीं।"

यह सुनकर गन्धर्वों ने एक पञ्चायत की उसमें यही प्रस्ताव रखा गया, कि उर्वशी कैसी स्वर्ग लाई जाय। किसी ने कोई उपाय बताया, किसी ने कोई उन सब की बातें सुनकर उग्रसेन

नामक गन्धर्व बोला—"देखो, भाई! सुनो मेरी बात। मुझे भली-भांति विदित है कि उर्वशी ने राजा के साथ विवाह वेदिक रीति से नहीं किया है वह प्रतिज्ञा बद्ध विवाह है। तीन प्रतिज्ञाओं मे से एक भी प्रतिज्ञा टूट जाय, तो उर्वशी नारद जी के शाप के भय से राजा को छोड़कर स्वर्ग चली आवेगी। यद्यपि उर्वशी की इच्छा स्वर्ग आने की नहीं है, वह राजा मे अत्यन्त ही आसक्त है, फिर भी प्रतीज्ञा भङ्ग होने पर वह वहाँ रह नहीं सकती। इसलिये सब से पहिले हमे उसके मेषों को चुरा लेना चाहिये" यह सम्मति सब को रुचिकर प्रतीत हुई। सभी ने इसका सहष समर्थन किया। सब मिलकर आधी रात को प्रतिष्ठानपुर पहुँचे।

महारज उर्वशी के साथ शयन-गृह मे सो रहे थे। समीप ही वे दानो मेढे के बच्चे रखे हुए थे। गन्धर्वो ने अपनी माया की। उग्रसेन भीतर घुस गया। उसने बल पूर्वक एक मेष बच्चे को पकड लिया वह पकड़ते ही बड़े वेग से चिल्लाया। गन्धर्व ने उसका मुख बन्द कर दिया। बाहर आकर उसने दूसरे गन्धर्व को दिया। उर्वशी चिल्लाई—"राजन्! उठो, उठो, देखा कोई मेरे बच्चे को हर कर लिये जा रहा है।" राजा नींद मे थे। उन्होने कुछ ध्यान नहीं दिया भली भांति उर्वशी की बात भी सुनाई नहीं दी। इसी बीच उग्रसेन दूसरे बच्चे को भी पकड लाया। बच्चे चिल्लाने लगे। उर्वशी दुःख के कारण रुदन करने लगी। वह क्रोध मे भरकर राजा को भली बुरी बाते सुनाने लगी। वह बोली—"हाय! मैं किस नपुंसक की नारी बनी, जो मेरे बच्चो की रक्षा करने मे भी असमर्थ है। मैं तो समझती थी, यह क्षत्रिय है बली है, वीर है। इसकी संरक्षकता मे मेरा कुछ भी अनिष्ट न होगा। मेरे बच्चों का कोई बाल भी बांका न कर

सकेगा, किन्तु यह तो नाम का ही क्षत्रिय निकला। दिन में तो बड़ा ढोंग मारता रहता है, मैं यह करूँगा, वह करूँगा। किन्तु रात्रि मे मेरे दुपट्टे मे मुँह छिपाकर स्त्रियो की भाँति खुर्राटे भरता रहता है। ऐसे वीर्यहीन स्त्रैण पति को पाकर मैं लोक परलोक दोनो से पतित हो गई। देखते-देखते चोर मेरे बच्चो को लिये जा रहे हैं, यह उनको छुडा नही सकता।"

अपनी प्रिया का ऐसा करुण क्रन्दन सुनकर वीराभिमानी महाराज ऐल तुरन्त अपनी शैया से उठे। समीप ही टगे हुए अपने खड्ग को उतार कर नगे ही भेड के बच्चो को खोजने चले। उस समय वे उर्वशी के मर्मान्तिक वचनो से ऐसे आहत हो गये थे कि उन्हे इस बात का ध्यान नही रहा, कि मैं नग्न हूँ। तुरन्त ठहर जा, ठहर जा, कहते हुए दौडे, गन्धर्व राजा के बल पराक्रम को जानते थे अतः वे मेषो को छोडकर आकाश मे बिजली के समान चमकने लगे। उस प्रकाश मे उर्वशी ने राजा को नग्नावस्था मे देख लिया। इससे वह बहुत घबराई। उसे नारदजी के वचन याद आ गये। यद्यपि वह अतृप्ता थी राजा को छोडना नही चाहती थी, उसका चित्त राजा के रूप-जाल मे फँसा हुआ था, फिर भी ऋषि के शाप के भय से उसने राजा का परित्याग करने का ही निश्चय किया। वह तुरन्त अन्तर्धान होकर गन्धर्वों के समीप पहुँच गई। गन्धर्व उस रूप की राशि सौन्दर्य की पुतली, स्वर्ग की चूडामणि ललना ललाम को लेकर गन्धर्व लोक को चले गये।

इधर जब मेष-बालकों को लेकर महाराज लौटे, तब उनके शरीर का सम्पूर्ण रक्त पानी हो गया, वे हक्के-बक्के से होकर चकित चकित दृष्टि से उर्वशी की शय्या को देखने लगे। उस पर उर्वशी नहीं थी। वे मूर्छित होकर गिर पडे और 'हा प्रिये!

हा प्रिये !" कह कर उच्च स्वर से रुदन करने लगे। कुछ काल मे चेत होने पर वे भवन के चारो ओर निहारने लगे। बार बार बिस्तरे को झाडने लगे, दशो दिशाओ को निहारने लगे। वे जिस दशा मे थे, उसी दशा मे पागलो की भाँति घर से निकल पडे। वे उर्वशी के लिये अत्यन्त ही अधीर हो रहे थे। उनका चित्त ठिकाने नही था। वे उन्मत्त सिडी-पागलो की भाँति इधर से उधर 'हा प्रिये, हा प्रिये' कह कर विचरण कर रहे थे। आधी रात्रि के समय वे अपने पुर को छोडकर विजन वन मे अकेले ही घूम रहे थे। उनके मुख मे जो भी अट सट बात आती, उसे ही बकने लगते। वे अपने आप ही उच्च स्वर से कहते जाते थे— प्रिये ! तुम मुझ हतभागी को छोडकर सहसा कहाँ अन्तर्हित हो गई। तुम्हारे बिना मैं प्रतिष्ठानपुर मे कैसे प्रवेश करूँगा ? जनता को क्या मुख दिखाऊँगा ? कैसे मेरा समय कटेगा ? किनके साथ बात करूँगा ? कौन मेरे मन को मुदित करेगी ? कौन मेरे मनस्ताप को हरेगी ? प्रिये ! तुमने विनोद तो नही किया है ? तुम मेरे प्रेम की परीक्षा तो नही ले रही हो ? तुम छिपकर मेरे साथ खिलवाड तो नही कर रही हो ? यदि ऐसी बात है, तो बहुत हो चुका ! इतनी हँसी अच्छी नही होती ! मैं अत्यन्त ही अधीर हो रहा हूँ ! तुम्हारे क्षण भर के वियोग को सहने की भी मुझमे शक्ति नही। देखो प्रिये ! तुम्हारे बिना यह रात्रि भी बीती जा रही है। ये नक्षत्र उसी प्रकार अन्तर्हित हो रहे हैं, जिस प्रकार तुम मेरे शयनागार से अन्तर्हित हो गई हो। देखो, निशा के प्रस्थान करने पर यह भगवती उषा देवी आ गई। उसी प्रकार तुम भी मेरे समीप आ जाओ। विप्रगण ऊषा देखकर अपने अपने नियमो मे लग गये। मेरे तो नियम सब तुम्हारे ही अधीन हैं। तुम्हारे बिना मेरा कोई नियम

नहीं चल सकता। देखो, ये भुवन-भास्कर भगवान् सविता उदित हो गये। दिन आ गया। तुम्हारे बिना यह पहाड़ से भी बड़ा मेरा दिन कैसे कटेगा ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार पागलों की भाँति प्रलाप करते हुए चक्रवर्ती राजा ऐल इधर से उधर घूमने लगे।"

छप्पय

प्रिया वचन सुनि परुष नगन नृप असि लै धाये।
करि प्रकाश गन्धर्व मेष तजि तुरत बिलाये॥
जब नृप निरखे नगन उरवशी अति सकुचाई।
अन्तर्हित ह्वै गई फेरि सुरपुर महँ आई॥
फिरे नृपति नहिँ लखी तहँ, प्रिया अधिक विह्वल भये।
अन्वेषण हित तुरत ही, रोवत वन कूँ चल दये॥

आदि—सब सुधि भूल जाता है। उसके लिये संसार शून्य हो जाता है। उसका एक ही कार्य रहता है अपने प्रिय की खोज करना। सासारिक सब प्रपंच रहते हुए भी उसके सामने से विलीन हो जाते हैं। वह सर्वत्र अपने प्यारे की ही छटा निहारता है, जड-चेतन का भेद-भाव भूल जाता है, लोक-परलोक दोनो के ही सुखों को समान समझता है, छोटे-बड़े का भेद-भाव भुला देता है। उसका प्यारा उसके साथ रहे, फिर चाहे उसे नरक में रहना हो या स्वर्ग मे, राजा बनकर रहना हो या भिक्षुक बनकर। यदि उसका प्रिय साथ नहीं है, तो उसके लिये स्वर्ग नरक से भी बढकर है, और यदि प्रिय साथ है, तो नरक भी सहस्रों स्वर्गों से श्रेष्ठ है। यह कामना यदि ससारी वस्तु की जाय, तो स्वर्ग मे वही वस्तु मिलती है, यदि यह भावना भगवान् मे हो, तो भगवान् के लोक की प्राप्ति होती है। उपासना मे भावना ही प्रधान कारण है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उर्वशी राजा को नग्न देखकर, अपनी प्रतिज्ञा भग हुई समझकर, राजमहल छोडकर चली गई। राजा उसके विरह मे दुःखी होकर नगर से निकलकर वन-वन उसकी खोज में भटकते रहे। इधर उर्वशी भी राजा के रूप पर आसक्त हुई उसी का निरतर चिन्तन करती रही।

वे जिसे सम्मुख देखते, उसी से अपनी प्रिया का पता पूछते। उनका विवेक नष्ट हो गया था। वे यह भी विचार नहीं करते थे, कि जिससे मैं अपनी प्रियतमा का पता पूछ रहा हूँ, वह जड है या चेतन।

इन बातों से उन्हें क्या प्रयोजन! उन्हें तो अपनी प्रिया का पता लगाना है, वह चाहे जैसे लगे, जिसके द्वारा लगे। सम्मुख उन्होने एक जगली हाथी को आते हुए देखा। उसे देखकर वे

बोले–"हे वारणेन्द्र ! तुम इस वन के ज्येष्ठ-श्रेष्ठ जीव हो। तुमने कहीं इधर से जाती हुई मेरी प्रिया को तो नहीं देखा है ? देखो, उसकी जाँघें तुम्हारी सूँड के समान हैं।" हाथी भला क्या उत्तर दे सकता था ! इतने में ही एक सिंह आ गया। सिंह के भय से हाथी भाग गया। अब राजा सिंह से ही पूछने लगे—"हे केशरी तुमने क्या मेरी प्रिया को देखा है ? उसका उदर तुम्हारे उदर के ही सदृश कृश है।" सिंह भी राजा की बात को अनसुनी कर के एक ओर चला गया। सम्मुख एक लंबा पर पके-पके बिम्ब के फलों को देखकर राजा बोले—"हे बिम्ब, तुमने मेरी प्राणेश्वरी को तो नहीं देखा है ? उसकी सबसे मोटी पहचान यह है कि उसके अधर तुम्हारे फलों के ही समान अरुण वर्ण के, स्निग्ध, और रसीले हैं।" भला कुँदरू क्या उत्तर दे सकता था ! उसके नीचे एक मयूर नृत्य कर रहा था। राजा की बात सुनकर उसने नृत्य करना बन्द कर दिया। वह भागकर एक ओर खड़ा हो गया और राजा को चकित दृष्टि से निहारने लगा। तब राजा उससे बोले–"हे मयूर ! तुम्हारे पंख बड़े चित्र-विचित्र वर्ण वाले हैं। कभी-कभी मेरी प्रिया ऐसी ही साड़ी पहिना करती थी। तुमने कहीं उसे इधर से जाते तो नहीं निहारा है ?" मयूर यह सुनकर चल दिया। उधर से एक हिरणी आ रही थी। वह यूथ-भ्रष्टा होने से कातर दृष्टि से भयभीत होकर आँखें फाड़-फाड़ कर राजा को निहार रही थी। उसे देखकर राजा बोले—"हे मृगी ! तुम मुझसे डरो नहीं। मैं वधिक नहीं, दुःखित हूँ, विरही हूँ, अपनी प्रिया द्वारा परित्यक्त हूँ। वह मुझे अर्धरात्रि मे छोड़कर चली गई है। तुमने उसे देखा हो तो मुझे बता दो, मेरे तन की तपन बुझा दो, मुझे दयिता का संदेश सुनाकर जीवन-दान दो। उसकी आँखें तुम्हारे ही समान हैं। वह भी बड़ी भीरु है।"

मृगी ने भी जब कुछ उत्तर नहीं दिया, तब राजा रोने लगे। वे अपने ही आप बड़बड़ाने लगे—"हाय ! विधाता मेरे वाम हो गया ! मेरे बुरे दिन आ गये ! कोई मुझसे बोलता तक नहीं! घूमते-घूमते रात्रि बीत गई। सूर्य चढ़ते-चढ़ते माथे पर आ गये। पृथ्वी तपने लगी। नीचे पाँव, ऊपर सिर जलता है। मुझे भीतर से विरहाग्नि जला रही है। सिंह ताप से तप्त होकर अपनी गुहा में घुस गये, वे अपनी प्रियाओं के साथ सुख पूर्वक बैठे हैं। मैं कहाँ जाऊँ ? मेरे लिये तो संसार शून्य है। ये जङ्गली भैंसे धूप के कारण तालाबों में घुसकर कीच में लोट रहे हैं, अपने ताप को मिटा रहे हैं। मैं किसके अङ्क में लोटकर अपना ताप मिटाऊँ ? यह चातक प्यास के कारण बार-बार चिल्ला रहा है, जैसे मैं उर्वशी को पाने के लिये पागलों की भाँति प्रलाप कर रहा हूँ। ये वन-गज अपनी-अपनी सूँड़ों में पद्मिनी खंडों को लिये हुए, उन्हें जल में डुबो-डुबो कर, अपने शरीर को सींचते हैं। यदि कहीं मेरी प्रिया भी मुझे मिल जाती, तो उसके कर-कमलों को अपने अंगों पर फिरा कर अपनी विरहाग्नि को बुझाता, उसके कमल-मुख को सूँघ कर अपनी तृष्णा को शान्त करता। उसके चरण-कमलों को अङ्क में रख कर सुखास्वादन करता। उसके अङ्ग की कमल-सरिस गन्ध को सूँघ कर अपने विरह-ज्वर को शान्त करता। ये पक्षी ताप से तापित होकर अपने-अपने घोंसलों में घुस गये हैं। जैसे यह चिरौटा अपनी चिड़िया के साथ घोंसले में सुख पूर्वक सो रहा है, ऐसे ही यदि मेरी प्रिया मिल जाती, तो मैं भी अपने गृह रूपी घोंसले में सुखपूर्वक सोता ! ये पक्षियों के सुन्दर-सुन्दर कोमल-कोमल अंगों वाले बच्चे बार-बार अपनी चोंच घोंसलों से बाहर निकालते हैं, फिर छिपा लेते हैं। इसी प्रकार मेरे बच्चे मेरी प्रिया के बिना तड़प रहे होंगे।

ये हिरण घास चरना छोड़ कर वृक्षों की छाया में बैठकर जुगाली कर रहे हैं। लाओ, मैं भी कुछ देर किसी वृक्ष की छाया में बैठकर अपनी प्रिया का चिन्तन कर लूँ। ओहो! यह शिरीष का सघन वृक्ष कितना सुन्दर है! इसके पुष्प उसी प्रकार कोमल और सुखस्पर्शी हैं, जिस प्रकार मेरी प्रिया का प्रत्येक अङ्ग है। किन्तु प्रिया के विरह से दुःखित मुझको यह अच्छा नहीं लगता! हाय! इसकी छाया में भी मुझे शान्ति नहीं। इसकी सुगन्धि मुझे विह्वल बना रही है। चलूं, आगे चलूँ। आगे कहूँ चलूँ? किधर चलूँ? कहाँ रोऊँ? किससे बात करूँ? कौन मेरी सुनेगा? कौन मुझे सान्त्वना देगा? मरूँ भी तो कैसे मरूँ? मौत भी मुझसे डर जायगी, नदी भी सूख जायगी, पहाड़ भी मुझे न गिरावेंगे, हिंसक जन्तु भी मुझे न खायेंगे! अग्नि मुझे कैसे जलावेगी, जब इतनी प्रबल विरहाग्नि से भी मैं अभी तक नहीं जला? सब मुझे छोड़ गये। कोई मेरी बात का उत्तर नहीं देता! जगत्-साक्षी भगवान् भुवन-भास्कर भी अपनी प्रिया सन्ध्या के रक्तवर्ण के अञ्चल में छिप गये। अब निशादेवी आ गई। हाय! मैं इस रात्रि को कैसे काटूँगा? कहाँ विश्राम करूँगा? कौन मुझे आश्रय देगा? हे देवि निद्रे! तुम्हें बार-बार प्रणाम है! तुम मेरी आँखों में आ जाओ। स्वप्न में ही मैं अपनी प्रियतमा के दर्शन कर लूँ। स्वप्न में भी वह तन्वङ्गी मुझे मिल जाय, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ। हाय! मैं कैसा अभागा हूँ? प्रतिष्ठानपुर का प्रतिष्ठित चक्रवर्ती भूप होकर मैं यहाँ विजन वन में अकेले भटक रहा हूँ। यदि मुझे कोई मेरी प्रजा आकर देखे तो कभी पहिचान नहीं सकती। हाय! यह पूर्ण चन्द्र उदित होकर मुझे खिझा रहा है, मानों मुझे चिढ़ाते हुए कह रहा है— "तुम्हारी प्रिया ने अपने मुख की आभा से मुझे फीका-फीका

बना दिया था! तुम उसके विकसित मुख को निहार कर मुझे अत्यन्त तुच्छ, हेय और कलङ्की बताते थे। अब बताओ, मैं सुन्दर हूँ या तुम्हारी प्रिया का मुख।" मैं इन्हें क्या उत्तर दूँ? बुरे दिनों मे मित्र भी दुश्मन बन जाते हैं। सो यह चन्द्र तो मेरी प्रिया के मुख द्वारा पहिले से ही तिरस्कृत है। किन्तु नहीं, नहीं, ये चन्द्र तो मेरे पूज्य हैं। मेरे पिता के भी पिता हैं। अपने पोते पर ये दया करेंगे, अपनी पौत्र-वधू का पता ये अवश्य मुझे बता देंगे, मुझे मेरी प्रिया से अवश्य मिला देंगे। मेरी प्राणेश्वरी ने इन्हें दढ़िया ससुर समझकर लज्जा से घूँघट काढ़ लिया होगा, वह यहीं कहीं बैठी होगी। ये चन्द्रदेव संकेत द्वारा मुझे अवश्य उसके समीप पहुँचा देंगे। कब उस कमलानना, कमलनयना, कमलाङ्गिनी, कमलगन्धा की अंग–वायु को सूँघूँगा? कब उसके काले-काले घुंघराले कचों से आवृत विकसित मुख कमल को किंचित उन्नत करके उसके अधर से निःसृत अमृत का अतृप्त भाव से पान करूँगा? कब उसकी मृणाल के समान सुन्दर–सुडौल कोमल बाहुपाशों में आवद्ध होऊँगा? कब उस नीलोत्पल दलाक्षी के बड़े-बड़े विशाल नेत्रों में निज नेत्र गड़ा कर आत्म-विस्मृत बनूँगा?

हाय! मेरी प्रिया तो ऐसी निष्ठुर कभी नहीं थी! वह तो कभी स्वप्न मे भी मुझ पर क्रोध नहीं करती थी। मैंने आज तक उसका क्रोधित आनन कभी देखा ही नहीं। वह तो मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करती, पल-पल, क्षण-क्षण मेरी प्रसन्नता का ध्यान रखती थी। उसके मुख-मण्डल पर मैंने आज तक कभी उदासी देखी ही नहीं। रात्रि में कमल मुँद जाता है, किन्तु उसका मुख-कमल रात्रि मे अधिक खिलता था। दिन में चन्द्रमा म्लान हो जाता है, किन्तु उस चन्द्र-मुखी का मुख-चन्द्र दिन में

ही अधिकाधिक विकसित होता था। उसकी काली-काली घुँघराली लटें बिथुरकर मेरे मुख से लगतीं, तब वह हँस पड़ती। मैं निहाल हो जाता। प्रिये! तुम किस अपराध पर मुझे छोड़ गई? जो हो गया, सो हो गया। अब मैंने अपने किये का आवश्यकता से अधिक दण्ड पा लिया। अब तुम आ जाओ। मुझे दर्शन देकर सुखी बनाओ। ससार मे तुम ही मेरी मति हो, तुम ही मेरी गति हो, तुम ही मुझे जिला सकती हो, तुम ही मृत-सदृश मुझे सुधा-पान करा सकती हो, तुम ही मेरी डगमगाती नौका को पार लगा सकती हो, तुम्हीं अथाह समुद्र मे डूबते मुझे करावलम्बन दे सकती हो। पहिले भी मैं मर रहा था, तुमने ही रम्भा के साथ आकर अपने देवदुर्लभ दर्शन देकर मुझे जीवन दान दिया था। अब भी तुम आकर मुझे मरने से बचा लो। हाय! तुम तो उत्तर भी नहीं देती। अब मैं क्या करूँ? देखो-देखो यह विभावरी भी बीत गई। निशा का भी अन्त हुआ। पूर्व सन्ध्या पुनः वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर आ गयी। पक्षी अपने घोंसलों मे बैठे ही बैठे गीत गाने लगे। मेरे गीत की तो उर्वशी ही एक मात्र टेक है। जब तक वह तन्वङ्गी न मिलेगी, मैं इसी गीत को गाता हुआ वन-वन फिरूँगा। इसी प्रकार भटकता-भटकता मर जाऊँगा। दिन हो, या रात्रि हो, मेरे लिये सब समान हैं। निद्रा भी मुझे छोड़कर चली गई। वह तो उर्वशी की सहेली थी। उसी के साथ वह भी भाग गई। जब उर्वशी लौटेगी, तभी उसके साथ वह भी लौटेंगी। अब तो विकलता देवी ही एक मात्र मेरा साथ दे रही है, आशा देवी ही हाथ पकड़े मुझे ले चल रही है। अब आशा जहाँ ले जायगी, वहाँ चलूँगा" यह कहते हुए राजा ऐल आगे को चल दिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसी प्रकार विरह में उन्मत्त हुए अंट-संट बकते राजा बारह दिन मे प्रतिष्ठानपुर से चलकर कुरुक्षेत्र मे पहुँचे। वहाँ भी वे 'हा प्रिये ! हा उर्वशी !' कहते हुए उन्मत्तों की भाँति इधर से उधर परिभ्रमण करने लगे।

छप्पय

बैठें तरु तर तनिक तुरत औचक उठि धावें।
भ्रमवश प्रिया निहारि बढ़ैं आगे गिर जावैं॥
अट-सट कछु बकैं सिड़ी-पागल सम रोवें।
निशि-वासर पथ चलें, करें भोजन नहि सोवे॥
चलत-चलत द्वादश दिवस, महँ पहुँचे कुरुक्षेत्र ढिंग।
भूख प्यास श्रम नींद तैं, भये नृपति के शिथिल अंग॥

ऐल और उर्वशी का पुनर्मिलन

(७२५)

स ता वीक्ष्य कुरुक्षेत्रे सरस्वत्या च तत्सखीः ।
पञ्च प्रहृष्टवदनाः प्राह सूक्तं पुरूरवाः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १४ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

लखी उरवशी तहाँ, पाँच सखियन के सँग महँ ।
अति प्रसन्नता भई प्रिया लखि नृप अँग अँग महँ ॥
बोले—'जाया ! प्रान तुम्हार बिनु ये जावैं ।
तब निरखत तन मृतक होहि गीदड़-वृक खावैं ॥
कहै उरवशी कामिनी, करैं प्रीति नित स्वार्थ तैं ।
नष्ट करहिं सर्वस्व कूँ, भ्रष्ट करहिं परमार्थ तैं ॥

कोई बहुमूल्य प्यारी वस्तु हमारे समीप हो, उसके सेवन से नित्य ही हम अनुभव करते हैं। वह कदाचित् खो जाय, उसकी प्राप्ति के लिये प्रबल प्रयत्न करते रहें और फिर वह मिल जाय, तो उसकी प्राप्ति में पलने से कई गुना सुख होगा। खोई वस्तु

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं— राजन् ! एक बार सरस्वती नदी के तट पर कुरुक्षेत्र में महाराज पुरूरवा ने प्रसन्नमुखी पाँच सखियों के साथ उर्वशी को देखा। उसे देखकर राजा ने यह सूक्त कहा।

के मिल जाने से एक अनिर्वचनीय सुख होता है। कामना ही इच्छा को प्रबल करती है, इच्छा ही हमें लोक-परलोक तथा चौरासी लाख योनियों में घुमाती रहती है। चाह ही चिन्ता को बढ़ाती है। इच्छापूर्ति होने पर कभी विवेक हो जाता है, कभी इच्छा और प्रबल हो जाती है प्रबल इच्छा का फल परलोक में प्राप्त होता है। विवेक होने पर विषयों से वैराग्य हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इधर तो महाराज पुरूरवा पागल बने उर्वशी के विरह में इधर-उधर भटक रहे थे, उधर उर्वशी की भी दशा बुरी थी। उसके मन में महाराज की मूर्ति गढ़ गई थी। वह दिन-रात राजा की ही चिन्ता करती रहती थी। वह राजा के लिये सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर थी। उसे एकमात्र भय था तो देवर्षि नारद का। नारदजी ने रम्भा के साथ जाते हुए कह दिया था—"तुम्हारी तीन प्रतिज्ञाओं में से एक भी भग हो जाय, तो तुम राजा के समीप मत रहना, नहीं तो तुम्हारा कल्याण नहीं है।" उसने राजा को नग्नावस्था में देख लिया, अतः उसे अत्यन्त दुःख के साथ उनका परित्याग करके गन्धर्वलोक में आना पड़ा। किन्तु यहाँ उसकी विकलता बढ़ गई। जब उससे किसी प्रकार भी न रहा गया, महाराज के विरह-दुःख को सहन करने में उसने सर्वथा अपने को असमर्थ पाया, तब तो वह देवर्षि नारद के समीप गई। हाथ जोड़कर दीनवाणी में उसने कहा—"देव! मैं महाराज ऐल के बिना अत्यन्त ही दुःखी हूँ। मैं उन नरेन्द्र के एक बार दर्शन करना चाहती हूँ। आपके शाप के भय से मैं उनके पास नहीं जा सकती।"

नारदजी ने कहा—"देवि! तुम जिस प्रकार राजा के विरह में

दुःखी हो, उसी प्रकार राजा भी तुम्हारे लिये अत्यन्त कातर हो रहे हैं। उन्होंने अशन-वसन शयन-सभी का परित्याग कर दिया है। वे पागलो की भाँति विक्षिप्त बने इधर से उधर भ्रमण कर रहे हैं। वे आज कुरुक्षेत्र में एक प्लक्ष वृक्ष के नीचे अचेतन हुए पड़े हैं। तुम जाकर उनके दुःख को शान्त करो। अपनी भी अभिलाषा पूर्ण करो। केवल एक रात्रि तुम उनके समीप रह सकती हो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विरहियो के लिये तो क्षण भर का मिलन ही अत्यन्त सुखप्रद है। पल-भर के मिलन के लिये ही तो वे व्याकुल बने रहते हैं। उर्वशी को तो अपने प्रियतम से एक दिन मिलन का सुअवसर प्राप्त हो गया! इस समाचार को श्रवण करके वह फूली नहीं समाई। उसके अग प्रत्यग खिल गये। उसने प्रसन्नता प्रकट करते हुए अपना सखियों से कहा—"बहिनो! चलो, आज मैं अपनी चिरकाल की विरह वेदना को शान्त करूँगी। आज अपने प्रियतम के अक से अक भरकर मिलूँगी। आज मेरी साधना सफल होगी, अपने तप का फल पाऊँगी।" यह कहकर उसने अत्यन्त उल्लास से अपने अङ्गो को वस्त्राभूषणा से अलकृत किया। सोलहो श्रृङ्गार करके वह सखियों से घिरी हुई कुरुक्षेत्र की ओर चली।

इधर महाराज पुरूरवा अपनी प्रियतमा के विरह में रोते-चिल्लाते-तडपते इधर उधर उन्मत्तो की भाति फिरने लगे। श्रम के कारण उनके अग शिथिल हो गये, वे पुष्करिणी के समीप ही एक सघन वृक्ष की छाया में गिर पडे। आज उन्हें नींद आ गई। बिना विस्तर के धूल में वे मृतक-सदृश पडे थे। उनके काले-काले घुँघराले बाल बिखरे हुए थे। न उनमें तेल डाला गया था, न उन पर कघी पडी थी। रूखे रूखे वे बाल वायु में हिल हिलकर

महाराज की मनोवेदना व्यक्त कर रहे थे। उर्वशी उनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर दुःख से अधीर हो गई। हाय! काल की यह कैसी कठोर क्रीड़ा है। विधि की कैसी विचित्र विडंबना है! जिसे हम हृदय से प्यार करते हैं, उससे परिस्थितियों के कारण मिल नहीं सकते। दो हृदय भाग्यवश पृथक्-पृथक् तड़पते रहते हैं। दो प्रेमी मिलकर एक साथ नहीं रह सकते। काल-चक्र एक दूसरे से पृथक करके दोनों को दुःखी बनता रहता है। हाय! इन चक्रवर्ती महाराज की मेरे वियोग में कैसी दुर्दशा हो रही है? कौन कह सकता है कि ये पुरुष—शार्दूल प्रतिष्ठानपुर के प्रजा-पालक प्रजेश हैं? आज ये पागलों की भाँति धूल में लोट रहे हैं, इनका मुख कुम्हला गया है। बारह दिन पहले-ये कितने हृष्ट-पुष्ट थे! आज इनका शरीर सूखकर काँटा हो गया है! प्रतीत होता है, इन्होंने तबसे न कुछ खाया है, न पिया, ये बिना विश्राम किये दौड़ते ही रहे हैं। इनकी आँखें भीतर घुस गई हैं। अंग-प्रत्यंग कृश और शिथिल पड़ गये हैं। इनके प्रेम का बदला मैं कैसे दे सकती हूँ? अच्छा, इनकी आँखें लग गई है, तो इन्हें कुछ काल विश्राम करने दूँ। मैं तब तक इस पुष्करिणी में स्नान कर लूँ। कैसा पावन यह तीर्थ है? यहाँ सरस्वती की गुप्त धार है! जब तक स्नान करूँगा, तब तक महाराज जाग भी जायँगे।" यह सोचकर वह वस्त्रों को उतारकर सखियों के साथ स्नान करने लगी।

उसी समय महाराज की आँखें खुल गईं। आँखें खुलते ही वे दीन वाणी में पुकारने लगे—"प्रिये! तुम मुझ हतभागी को छोड़कर कहाँ चली गई? तुम मेरे ऊपर दया क्यों नहीं करती? तुम मुझे अपने दर्शन क्यों नहीं देती? तुम्हारे बिना मैं मर जाऊँगा।"

उर्वशी ने महाराज का करुणक्रन्दन सुना। वह शीघ्र ही जल
से बाहर आई। वस्त्राभूषणों को पहन कर ज्यों ही वह राजा
की ओर चली, त्योंही राजा की दृष्टि उस पर पड़ी। उन्होंने
समझा, मेरी प्रिया मुझे बिना देखे ही स्नान करके जा रही
है। वह पागलों की भांति दौड़े, किन्तु शरीर मे शक्ति न
होने से ठोकर लगते ही गिर पड़े। वे रोते रोते कातर वाणी
मे कहने लगे—"प्रिये! प्रिये। तनिक ठहरो, ठहरो। देखो,
मैं तुम्हारे बिना कितना अधीर हो रहा हूँ। तुमने किस
अपराध पर मेरा परित्याग कर दिया? अभी तुम्हारे साथ
रहने से मेरी तृप्ति नहीं हुई। मुझे बिना पूर्णतया आनंदित किये
इस विजन वन मे छोड़कर जाना तुम्हारे स्वभाव के अनुरूप
नहीं। कितने दिनों से मैं तुम्हारी रूप-सुधा का प्यासा हूँ?
कितने दिनों से तुम्हारे प्रेम-भरे मीठे वचनो को सुनने के लिये
लालायित हूँ? तनिक मुझे अपना कमल-मुख तो दिखा जाओ।
क्षणभर बैठकर हम अपने दुःख-सुख की कुछ बातें तो कर लें।
देखो, मेरा यह सुन्दर शरीर तुम्हारे बिना कैसा हो गया है!
तुम्हारे वियोग-दुख को सहन करने की इसमे शक्ति नहीं, यह
प्राणहीन होकर यहीं गिर जायगा। इसे कुत्ते, स्यार, गीदड़ नोच-
नोचकर खायेंगे। जिस शरीर को अंक में रखकर तुम परम
प्रमुदित होती थी, आज वही तुम्हारे बिना मृतक हो जायगा
तुम्हारे देखते-देखते सड़ जायगा। मांस-भोजी कंक, गृद्ध, आदि
इसे खायेंगे! क्या यह तेरे प्रभाव और पद के अनुरूप
होगा?"

राजा की, ऐसी करुणा भरी वाणी सुनकर उर्वशी का हृदय
फटने लगा। वह राजा के समीप आकर बैठ गई। उनके सिर
को अपनी गोद मे रखकर उनकी धूल झाड़ती हुई, अत्यन्त

स्नेह के स्वर में बोली—"राजन् पुरुष होकर भी आप इतने अधीर हो रहे हैं! हे नरर्षभ! ऐसी अधीरता आपके अनुरूप नहीं। महाराज! आप युग-युग जीवें। आपकी देह सदा ऐसी ही सुन्दर बनी रहे। आप चिरंजीवी होकर प्रजा का पालन करें। आप मुझ स्वैरिणी स्त्री के पीछे इतने अधीर हो रहे हैं! यह आपकी भूल है। मुझ-जैसी स्त्री के पीछे आप अपने विवेक को न खोवें। कामिनियों का किसी से प्रेम नहीं हुआ करता।"

राजा ने अधीरता के स्वर में कहा—"देवि! तुम स्त्री होकर ऐसी बात मुख से मत निकालो। इस संसार में एकमात्र स्त्री ही तो सभी सुखों की खान है। कोई वस्तु शब्द से सुख देती है, कोई रूप से, कोई रस के द्वारा, कोई गन्ध के द्वारा, और कोई स्पर्श के द्वारा। स्त्री में तो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पांचों सुख हैं। स्त्री ही जगत् की जननी है। स्त्री के बिना आकर्षण नहीं कार्य में प्रवृत्ति नहीं। नीरस जीवन में सरलता का पुट लगाने वाली नारी ही तो है?"

उर्वशी बोली—"देव! आपका कथन यथार्थ है, किन्तु स्त्री के कई रूप होते हैं—पुत्री, भगिनी, धर्मपत्नी, माता, अनन्या और कामिनी। जैसे एक ही रस पात्र-भेद से पृथक्-पृथक् गुण देने-वाला हो जाता है, वैसे ही एक स्त्री सम्बन्ध-भेद से भिन्न-भिन्न रूपों वाली बन जाती है पुत्री वात्सल्य की मूर्ति है, भगिनी दया की मूर्ति है, धर्म-पत्नी प्रेम की मूर्ति है, माता क्षमा की मूर्ति है, अनन्या उपासना की मूर्ति है और कामिनी साक्षात् दोषों की मूर्ति है। स्त्री का पुत्री और भगिनी रूप लाल्य है, उसका लालन पालन करना चाहिये। यह भोली बालिका सभी के चित्त को चुराती है, मन्द मन्द मुस्कराकर जीवन में वात्सल्य उदय करती है। उसके लिये संसार में सभी पिता और भाई हैं। जब वह धर्म-

पत्नी बन जाती है, तब संसार में उसके लिये एक ही पुरुष रह जाता है। शेष या तो रहते नहीं, यदि रहते भी हैं, तो पिता भाई, पुत्र, आदि के रूप में ही रहते हैं। वह सब की श्रद्धा-भाजन बनती है। वह सती के रूप में संसार को धारण करती है। वही जब माता बन जाती है, तब सबको अपनी संतान समझती है, उसकी संज्ञा जाया हो जाती है पति ही उसके उदर में प्रवेश करके पुत्र रूप से पुनः प्रकट होता है। वह जग-जननी के रूप से संसार में प्रकट होती है। सभी उसकी वन्दना करते हैं। वह माता-रूप में सब के प्रति वात्सल्य प्रकट करती है। वह निन्दनीय नहीं, वन्दनीय है। इन रूपों के अतिरिक्त नारी का एक अनन्यारूप भी है। पति जीवित हो या मर गया हो, विवाह हुआ हो या न हुआ हो, वह निरन्तर भगवत् चिन्तन में ही अपना समय बिताती है। सती के लिये तो पति ही परमेश्वर है; किन्तु अनन्या के लिये माता, पिता, भाई, पति - ये संसारी सम्बन्ध हैं, इनसे वह घृणा नहीं करती, इनके प्रति भी उसका आदर है। किन्तु वह सामान्य आदर है। अनन्य अनुराग तो उसकी अच्युत-पाद-पद्मों में है। उन्हीं को वह अपना पति सर्वस्व, समझती है। उसके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या? वह तो साक्षात् श्री है।

इन सबसे पृथक् स्त्री का एक कामिनी रूप है, काम-तृप्ति ही जिसका लक्ष्य है। वह कामिनी या स्वैरिणी कहलाती है। उसका एक पति नहीं होता। जिनसे उसकी काम-तृप्ति होती है, उन्हीं को वह प्यार करने लगती है, उन्हीं से अपना सम्बन्ध स्थापित करती है। कामिनियाँ चाहे घर में रहें या हाट में बैठें, उनमें एक पण्य स्त्री होती है, एक कामिनी। दोनों ही स्वैरिणी हैं। वेश्या चाहे इस लोक की हो, या स्वर्ग की—दोनों ही समान

हैं। इनके हृदय छुरे के समान होते हैं। ऐसी व्यभिचारिणी स्त्रियाँ किसी से शुद्ध प्रेम नहीं कर सकतीं। उनका प्रेम तो स्वार्थजन्य होता है। जब तक जिससे स्वार्थ सधता है, तब तक वे उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करती रहती हैं। जहाँ स्वार्थ में आघात हुआ, ये चण्डी बन जाती हैं, सब कुछ करने को उतारू हो जाती हैं। ऐसी स्वैरिणी स्त्रियाँ बड़ी निर्दयी होती हैं। ये अपने विरुद्ध आचरण को सहन नहीं कर सकतीं। अपने काम-भोग में इन्हें जहाँ व्याघात दिखाई दिया, वहाँ ये राक्षसी रूप धारण कर लेती हैं। ये तनिक से स्वार्थ के लिये बड़े-बड़े साहस का काम कर बैठती हैं। राजन्! आप तो पुरुष हैं, आप इन स्वेच्छाचारिणी कामिनियों की बातें नहीं जानते। मैं इनकी करतूतों से भली भाँति परिचित हूँ। मेरा भी कोई एक पति नहीं। मैं भी स्वर्ग की वेश्या ही हूँ। देवयोनि में होने से, अमृत पीने से, नारायण की जाँघ से उत्पन्न होने से, मुझे शास्त्रकारों ने शुद्ध कहा है। फिर भी मैं बहुभर्तृ तो हूँ ही। मैं तो इन कामिनी स्वैरिणियों की सभी लीलायें जानती हूँ। ये पहिले तो विश्वास उत्पन्न कर लेती हैं, फिर स्वार्थ के वशीभूत होकर तनिक-सी बात पर विश्वासघात कर डालती हैं। ये भाई, पिता, प्रेमी—सभी को विष दे सकती हैं, काम के पीछे पुत्र की हत्या कर सकती हैं। गर्भ के बालक को गिरा सकती हैं, भ्रूण हत्या-जैसे पाप को हँसते-हँसते कर सकती हैं। महाराज! मैं कहाँ तक बताऊँ? मैंने यहाँ तक देखा है कि जार के कहने से वे पति तक को मार डालती हैं। पति का शव पड़ा है और वे जार के साथ हँस रही हैं, खेल रही हैं, क्रीडा कर रही हैं। सगे-भाई की छाती पर चढ़कर उसे मार सकती हैं। ये कुलटा कामिनियाँ सर्वथा सौहार्द-शून्य होती हैं। भोले-भाले कामी पुरुष चक्कर में फँस जाते हैं, इन्हें अपनी प्रेय-

सी मानने लगते हैं, इन पर विश्वास करते हैं। अन्त में ये उनके साथ छल करती हैं। जैसे गौ को कितनी घास मे छोड़ दो, वह एक स्थान पर न चुगेंगी, नई-नई घास की इच्छा करेगी। ऐसे ही ये स्वेच्छाचारिणी-व्यभिचारिणी कामिनियाँ नित्य नये पति की इच्छा करती है। जिसे भी देखकर इनका चित्त चचल हो जाता है, उसे तुरन्त फँसाने का जाल रचती हैं। पिछले प्रेमी को उसी प्रकार फेंक देती है, जैसे दूध से मक्खी को फेंक देते हैं। राजन्! आप मुझ स्वर्ग की अप्सरा के पीछे इतने उन्मत्त हो गये हैं, यह आपको शोभा नही देता।"

उर्वशी की ऐसी गूढ़ ज्ञान भरी बातें सुनकर भी राजा का मोह दूर नहीं हुआ। वे काम के अधीन हो रहे थे। अतः वे बोले—"देवि! तुम वेही बातें कहकर मेरे प्रेम की परीक्षा ले रही हो क्या? मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, मेरे चित्त मे तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरी स्त्री नही। तुम्हें पाकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।"

राजा को अत्यन्त अधीर देखकर उर्वशी बोली—"हे पुरुष शार्दूल! मैं तो गन्धर्वों के अधीन हूँ। आप एक काम करें आप समाहित चित्त होकर गन्धर्वों की आराधना करें। आपकी अनन्य आराधना से जब गन्धर्व आप पर प्रसन्न हो जायँ आपसे वर माँगने को कहें, तब आप उनसे मुझे ही माँग ले। उनके मुझे देने पर मैं निरन्तर गन्धर्वलोक में आपके साथ रमण करूँगी। मुझे भी आपके बिना संसार मे कुछ अच्छा नहीं लगता। आज की रात तो मैं नारदजी की आज्ञा से आपके साथ रहूँगी। प्रातःकाल होते ही मैं चली जाऊँगी। पुनः एक वर्ष के पश्चात् यही पर आपसे मेरी भेंट होगी। तब तक आप यहाँ तपस्या करें।"

यह सुनकर राजा अत्यन्त हर्षित हुए। वे उर्वशी के लिये सब

युद्ध करने को तत्पर थे। वह रात्रि उर्वशी के सहित उन्होंने अत्यन्त ही आनन्द के साथ बिताई। उर्वशी को पुनः प्राप्त करके उनके रोम-रोम खिल गये, अमोघवीर्य उन राजर्षि ने उसी रात उर्वशी में गर्भ स्थापित किया। प्रातःकाल होते ही उर्वशी गन्धर्व-लोक को चली गई।

उर्वशी के चले जाने पर राजा सावधान होकर गन्धर्वों की उपासना करने लगे। उनका चित्त उर्वशी में ही फँसा था। उनके मन मंदिर में उस मदेक्षणा की मनोमोहिनी मूर्ति ही बसी हुई थी। वे उसी का ध्यान करते हुए गन्धर्वों का आराधन करते थे। एक वर्ष के अनन्तर उनकी उपासना से गन्धर्व प्रसन्न हुए वे नारदजी को आगे करके राजा के सम्मुख प्रकट हुए और मेघ-गम्भीर वाणी में बोले—"राजन्! आपकी तपस्या पूर्ण हुई। हम आपकी आराधना से सन्तुष्ट हैं। अब आपको जो भी माँगना हो, माँग लें।"

राजा ने कहा—"गन्धर्वो! यदि आप यथार्थ में मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे मेरी प्रिया उर्वशी को आप दे दें।

यह सुनकर गन्धर्व बोले—"राजन्! उर्वशी तो गन्धर्व लोक की वस्तु है। वह तो शापवश कुछ दिनों के लिये पृथ्वी पर आ गई थी। उसके शाप का समय समाप्त हो गया। अब उसका अवनि पर आना असंभव है। फिर भी हम आप को एक उपाय बताते हैं, जिससे आप पुनः उर्वशी को प्राप्त कर सकेंगे।"

राजा ने कहा—"हाँ आप लोग मुझे उपाय बतायें। मैं उर्वशी की प्राप्ति के लिये उसे अवश्य करूँगा।"

गन्धर्वों ने कहा—"राजन्! यह अग्नि से पूर्ण एक स्थाली है। इसे आप ग्रहण करें। इस अग्नि के आप तीन भाग कर के निरालस्य होकर इनका यजन करें। आप वेदोक्त विधान

से 'जिस कामना से भी अग्नि का यजन करेंगे, आप की वही कामना पूर्ण होगी। उर्वशी की कामना से आप इन तीनों अग्नियों में आहुतियाँ देंगे, तो आपको गन्धर्वत्व की प्राप्ति होगी। गन्धर्वलोक में आकर एक मन्वन्तर-पर्यन्त आप उर्वशी के साथ सुखपूर्वक रमण करेंगे। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर कलियुग-इन चारों युगों की ७१ बार चौकड़ियाँ बीतेंगी, तब तक आप उर्वशी के साथ गन्धर्वलोक मे रहेंगे। अभी तक तो सत्ययुग था, कोई यज्ञ-यागादि करता नहीं था। अब इस त्रेतायुग मे आप ही इस अग्नि को दिखाने वाले प्रथम मन्वन्तर के प्रथम अग्निहोत्री होंगे। यह अग्नि आप के ही नाम से जगत् मे विख्यात होगी।"

इतना कह कर और उस अग्निस्थाली को देकर गन्धर्व अपने लोक को चले गये। राजा ने देखा, उसमे हुताशन दीप्त हैं। वे सोच रहे थे, इस अग्नि-स्थाली को मैं अपने पुर मे ले चलूँ, वहीं इसके तीन भाग करके यजन करूँगा फिर वे सोचने लगे—"उर्वशी कह गई थी, एक वर्ष पश्चात् मैं फिर आऊँगी। वह गर्भवती भी है। गन्धर्व-लोक मे तो वह पुत्र का पालन कर नहीं सकती। पुत्र को देने वह आवेगी ही, उसकी प्रतीक्षा करूँ।"

राजा यह सोच ही रहे थे कि उसी समय उन्हें छम-छम की ध्वनि सुनाई दी। ज्योंही उन्होंने उत्कण्ठा-भरे हृदय से सिर उठाकर ऊपर देखा, त्यों ही उन्हें सोलहों शृङ्गार किए हुए, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित उर्वशी दिखाई दी। उसकी गोद में एक अत्यन्त ही सुन्दर बालक था। राजा के समीप आकर उसने कहा—"राजन्! यह आपका पुत्र है। इसे आप ग्रहण करें। अब मेरे गर्भ से आपके ६ पुत्र हो गये। इनका पालन आप भली भाँति करें। गन्धर्वों ने आपको मेरी

प्राप्ति का उपाय बता ही दिया है, आप उसी उपाय से अपने पुर में जाकर आराधना करें। इस पुत्र को आप स्वयं ही अपने पुर में ले जाकर इसका पालन करें। शीघ्र ही गन्धर्वलोक में आप आकर मुझसे भेंट करेंगे। फिर मन्वन्तर-पर्यन्त हम आप सुख-पूर्वक आनन्द-विहार करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतना कहकर उर्वशी स्वर्ग को चली गई। राजा उस अग्नि स्थाली और पुत्र को लिये वहीं कुरु-क्षेत्र में बैठे रहे।"

छप्पय

नृपवर ! धारो धैर्य, कष्ट कब तलक सहोगे।
एक वरष पश्चात् रात्रि मम संग रहोगे॥
होवेगो सुत और शोक सब मन को त्यागो।
गन्धर्वनि कूँ पूजि इष्ट वर उन तैं माँगो॥
नृप-संग निशि बसि गई पुनि, राजा तप लागे करन।
भये तुष्ट गन्धर्व तब, भूपति तैं बोले वचन॥

त्रयी विद्या का प्रादुर्भाव

[७२८]

तस्य निर्मन्थनाज्जाता जातवेदा विभावसुः ।
त्रय्या स विद्यया राज्ञा पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत् ॥❀
(श्री भा० ९ स्क० १४ अ० ४६ श्लो०)

छप्पय

'वर माँगो" सुनि नृपति नीर नयनिमहँ छायो ।
बोले—'यदि वर देहु, उरवशी मोइ दिवाओ ॥"
आमस्थाली दई, कह्यो धरि तीन भाग महँ ।
करो यजन, पुनि जाउ उरवशी बसहि सदा जहँ ॥
तनई आइ उरवशी, दै सुत निज पुर कूँ गई ।
थाली रति सुत सग पुर, गये लुप्त पावक भई ॥

पहिले लोग आजीविका के लिये खेती-बारी नहीं करते थे । यदृच्छया जो प्राप्त हो गया, उसे ही खाकर जीवन-निर्वाह करते थे । जब अविश्वास हुआ कि सभव है, फल कुछ न मिले, तब संग्रह

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! दो अरणियों के मंथन से जो जातवेदा नामक अग्नि प्रकट हुई, उन्हे राजा पुरूरवा ने आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—इन तीन भागों में विभक्त करके पुत्र-रूप से स्वीकार किया ।'

की कामना हुई। कामना-पूर्ति के लिये कृत्रिम उपाय किये जाने लगे। जब भूमि को गोड़कर उसमें बीज बोने लगे, अन्न-करने लगे, तब वह स्वाभाविकी सिद्धि नष्ट हो गई। तब पहिले कोई सग्रह घर बनाकर नहीं रहते थे, स्वेच्छापूर्वक जहाँ चाहते वृक्षों के नीचे, पहाड़ों की कदराओं में निवास करते। सर्दी, गरमी तथा वर्षा सहन करने की सबकी शक्ति उसी प्रकार की थी, जैसे जंगली जीवों की होती है। शनैः-शनैः अवनति आरम्भ हुई। लोग घर बनाने लगे। पुर ग्राम, पट्टन, राजधानियाँ बनने लगीं। कोई कोई फूस के घर बनाने लगे, फिर कच्ची मिट्टी से बनाने लगे, पीछे बहुत से लोग ईंट-पत्थरों से घर बनाने लगे। घरों में रहने से जंगलों में स्वच्छन्द रहने की शक्ति नष्ट हो गई। मनुष्य पराधीन और घर की परिधि में बंध गया। इसी प्रकार आदि सत्ययुग में सभी ज्ञानी होते थे। उस समय वेदों का, वर्णों का, देवों का, अग्नियों का विभाग नहीं था। एक मात्र ओंकार ही वेद था। श्रीमन्नारायण ही एक मात्र देव थे। यह लौकिक एक ही अग्नि थी, उसमें लौकिक, वैदिक तथा अनेक प्रकार के भेद नहीं थे। हंस नाम का एक ही वर्ण था। आवश्यकताओं के अनुसार आविष्कार हुए। युगधर्म के कारण इनमें अभिवृद्धि हुई। इनकी व्यवस्था में परिवर्तन हुआ। काल के अनुसार कामना होती है, कामना के अनुसार कार्य होते हैं नई वस्तु तो संसार में कोई बनती ही नहीं केवल आविष्कार होता है। जो भी बनेगा, पंचभूतों से ही बनेगा। इसी प्रकार काल के अनुसार पूर्ववत् सृष्टि के सभी कार्य होते रहते हैं। जो पहिले नहीं था, उसकी उत्पत्ति आज हो ही नहीं सकती। जो आज है, वह फिर कभी अवश्य होगा। गंगाजी को भगीरथ न लाते, कोई दूसरा लाता। वह आतीं अवश्य, निमित्त भगीरथ न होकर

कोई दूसरे हो सकते थे। भागीरथी न कहलाकर वे किसी दूसरे के नाम से प्रसिद्ध हो जाती। इसी प्रकार त्रेता युग में त्रयी विद्या का प्राकट्य होता है। महाराज पुरूरवा उसके निमित्त बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस समय कि मैं यह कथा कह रहा हूँ, वह प्रथम कल्प के प्रथम मन्वन्तर का प्रथम त्रेता-युग था। सत्ययुग में सभी स्वभाव से ज्ञानी थे। पृथ्वी से जो जब चाहता, वह तभी सशरीर स्वर्ग चला जाता, जितने दिन चाहता, स्वर्ग में रहता और फिर वहाँ से लौट आता। स्वर्ग में और पृथ्वी में कोई विशेष अन्तर नहीं था। ज्ञान में सबकी स्वाभाविक रुचि थी। विषयों के प्रति स्वाभाविक विरक्ति थी! सभी में सहज सिद्धि थी। जिस प्रकार पक्षियों में उड़ने की, जल-जन्तुओं में जल में रहने की स्वाभाविक सिद्धि होती है, वैसे ही मनुष्यों में स्वर्ग जाने की स्वाभाविक शक्ति थी। जब लोग कामी हो गये, तुच्छ संसारी विषयों के लिये व्याकुल रहने लगे, तब उनकी स्वाभाविक शक्तिनष्ट हो गई। अब तो स्वर्ग-प्राप्ति के लिये लोग साधना करने लगे। स्वर्ग की कामना वाले के लिये अश्वमेध का विधान बनाया गया। किसी विशेष लोक की प्राप्ति के लिये विशेष यज्ञों की विधि बनाई गई। देवता और मनुष्यों में भेद-भाव होने लगा। अब साधन करके ही मनुष्य स्वर्ग जा सकते थे। इसीलिये वेदों का विभाग किया गया, वर्ण और आश्रमों की व्यवस्था बनाई गई, वैदिक अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ, उनके भेद हुए। महाराज पुरूरवा ने सर्व-प्रथम उर्वशीलोक की इच्छा से त्रिविध अग्नि द्वारा सर्वदेव मय अधोक्षज, यज्ञेश्वर भगवान् वासुदेव का यजन किया। उन्होंने ही जातवेदा नामक अग्नि को प्रकट किया।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! महाराज पुरूरवा ने जातवेदा

पुनः आये और राजा को चेत कराके कहने लगे—"राजन! आप चिन्ता न करें। सम्मुख जो शमी (छोंकरा) का वृक्ष है, उसी में हुताशन प्रवेश कर गये हैं। आप युक्ति द्वारा उन्हें पुनः प्रकट करें।"

राजा ने पूछा—"किस युक्ति से अग्निदेव प्रकट होंगे ?"

गन्धर्व बोले—"इसकी दो अरणियाँ बनाइये। उन्हें वदिक मन्त्रों से रगड़िये। दोनों के रगड़ने से अग्नि प्रकट हो जायगी। उसको आप आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—इन नामों से तीन भागों में विभक्त करें। फिर विधिवत उनका यजन करें। उनके यजन करने से आप निश्चय ही गन्धर्व लोक को प्राप्त कर लेंगे। आप इस त्रेता युग में इन अग्नियों का आविष्कार करके यज्ञ करेंगे, तो आपका देखा-देखी सभी सकाम निष्काम पुरुष यज्ञ-याग किया करेंगे। आप इन अग्नियों के इस मन्वन्तर में जनक माने जायँगे। ससार में आपका यश फेलेगा। आप ही इसके आविष्कारक कहे जायँगे। तीन ये और एक औपसद—इस प्रकार ये चार प्रकार का अग्नियाँ होंगी। वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये जो चतुर्व्यूह प्रसिद्ध हैं—इन चार अग्नियों के अधिष्ठातृदेव होंगे। आहवनीय अग्नि के वासुदेव, दक्षिणाग्नि के सकर्षण, गार्हपत्याग्नि के प्रद्युम्न और औपसद अग्नि के अधिष्ठातृ देव अनिरुद्ध होंगे। इसीलिये चतुरात्मा विष्णु ही सर्व श्रेष्ठ और यज्ञस्वरूप माने जायँगे। इनका आप विधिवत् यजन करेंगे, तो आपको गन्धर्वत्व की प्राप्ति होगी। वहाँ आप उर्वशी को प्राप्त करके अपनी मनोकामना पूर्ण करेंगे।" इतना कहकर गन्धर्व स्वर्ग को चले गये।

राजा ने सम्मुख एक शमी (छोंकरा) के वृक्ष को देखा। उसके बीच में एक अश्वत्थ (पीपल) का वृक्ष भी उग रहा था।

पुराने वृक्षों के खोखले मे पीपल का बीज पडने से वृक्ष के खोखले मे भी पीपल उत्पन्न हो जाता है। राजा ने उन दोनों वृक्षों की दो अरणियाँ बनाई। नीचे के मन्थन काष्ठ (अरणी) का नाम अधरारणि और ऊपर के मन्थन काष्ठ को उत्तरारणि बनाया। उन्होंने उत्तरारणि (ऊपर के मन्थन-काष्ठ) में तो अपना कल्पना की, नीचे के मन्थन काष्ठ (अधरारणि) मे उर्वशी का कल्पना का और अग्नि प्रज्वलित करने वाले वेदमन्त्रों द्वारा उसका मन्थन करने लगे। उनके मन्थन से जो जातवेदा नाम की अग्नि प्रकट हुई, उसे राजा ने तीन भागों मे विभक्त किया। वही आहवनीय, जिसका ब्रह्मचर्यावस्था में आवाहन किया जाता है, गार्हपत्याग्नि, जिसको विवाह के चतुर्थ दिन अग्निहोत्री गृहस्थ धारण करते हैं, और तीसरी दक्षिणाग्नि, जिससे अग्निहोत्रियों का दाह-सस्कार किया जाता है, इन नामों से प्रसिद्ध हुई। राजा ने इनको अपने पुत्र-रूप से स्वीकार कर लिया। उन अग्नियों को वडी धूम धाम और प्रतिष्ठा के साथ लेकर महाराज पुरूरवा अपने नगर में आये। जनता ने उनका हृदय से स्वागत किया। महाराज ने उर्वशी-लोक की इच्छा से उस त्रिविध अग्नि द्वारा सर्वदेवमय भगवान् का यजन किया।

महाराज ऐल ने वडे उत्साह के साथ आकर सेकडों अश्वमेध यज्ञ किये, सहस्रों वाजपेय यज्ञ किये। अग्निष्टोम, अतिरात्र तथा द्वादशाह यज्ञों की तो कोई गणना ही नहीं। यज्ञों की उन्होंने धूम मचा दी। पृथ्वी पर यज्ञों का ताता लगा दिया। वे सप्तद्वीपवती पृथ्वी के एक मात्र सम्राट् थे। उन्हें किसी वस्तु की कमी तो था ही नहीं। उर्वशी-लोक की कामना से उन्होंने बडे बडे दक्षिणा वाले सहस्रों यज्ञ कर डाले।

यज्ञों के प्रभाव से महाराज पुरूरवा के राज्य में दुर्भिक्ष, मरण, आधि व्याधि, महामारी कुछ भी नहीं थी। सभी लोग धर्म में आस्था रखने वाले थे। सभी शान्त दान्त और सदाचारी थे। सभी सुखी और समृद्धिशाली थे। उनके राज्य में कहीं अवैदिकी हिंसा नहीं होती थी। वे अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे। प्रजा भी उन्हें पिता मानकर पूजती थी। किसी दिन राजा को कोई स्वप्न में भी देख लेता तो, वह अत्यन्त हर्षित होता। राजा जब सेन्य सजाकर नगर से निकलते, तो राजपथ के दोनों ओर पुरुषों की भीड़ लग जाती। स्त्रियाँ समस्त कार्यों को छोड़कर उनके दर्शनो को दौड़ती। वे ओखा मोखा, झरोखा, गवाक्ष तथा खिड़कियों में से राजा के दर्शन करतीं। राजा कामदेव से भी अधिक सुन्दर थे। एक बार जो उनके दर्शन कर लेता, उसके नेत्र तृप्त हो जाते। प्रजा-नर-नारी उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करती। थे चन्द्रमा के समान सबको प्रिय थे। चन्द्रमा तो विरहियो को दुःखदायी भी है, किन्तु वे सभी को सुखदायी थे। उनके दर्शनो को प्रजा लोग सदा लालायित रहते। महाराज जब-जब यज्ञ करते, सभी लोग सब कार्य छोड़कर यज्ञ-उत्सव में आ जाते। महाराज हृदय खोलकर अत्यन्त उदारता से धन लुटाते। जिसे जितना चाहिये, धन देते; जिसे जो वस्तु चाहिये उसे वह दे देते। उनके यज्ञ में 'ग्रहण करो', 'ग्रहण करो, के शब्द होते रहते थे। जिसे जो खाना हो, खाओ, जो पीना हो, पीओ। ब्राह्मण इतनी दक्षिणा पाते कि उसे उठा नहीं सकते थे, वहीं छोड़ जाते, पीछे ले जाते। महाराज के यज्ञों मे कभी कोई निराश नहीं लौटता था। महाराज ने इतने यज्ञ किये कि सम्पूर्ण पृथ्वी यज्ञ की वेदियों और कुशाओं से ढँक गई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज ऐल के सभी यज्ञ सकाम थे। उनकी एक मात्र इच्छा थी, जेसे भी हो, वे उर्वशी को प्राप्त कर सकें। उर्वशी के लिये ये सदा अधीर बने रहते थे। जो भी कर्म करते, जिस प्रकार भी भगवान् का भजन करते, अन्त में यही प्रार्थना करते—"मेरे इस कर्म से सर्वान्तर्यामी भगवान् प्रसन्न होकर मुझे उर्वशी की प्राप्ति करावें।" उर्वशी के प्रति महाराज की अत्यन्त ही आसक्ति थी। एक बार उन्होंने ब्राह्मणों से कहा—"विप्रो ! आप मुझे उर्वशी को दिखावें।"

ब्राह्मणों ने कहा—"हे राजर्षि ! हम आपको उर्वशी को नहीं दिखा सकते। आप अपने पुण्यों के प्रभाव से स्वय ही उर्वशी को देखेंगे।"

राजा ने कहा—"नहीं, महाराज ! मैं तो उसके बिना अत्यन्त व्याकुल हूँ, आप मुझे उसे दिखा ही दें।"

ब्राह्मणों ने कहा—"राजन् ! हमारी सामर्थ्य के बाहर है।"

राजा ने उनसे अत्यन्त आग्रह किया। उन्हें बहुत-सा धन देने का लोभ दिया। जब ब्राह्मणों ने सब प्रकार विवशता प्रकट की, तब राजा को उन पर क्रोध आ गया। काम से क्रोध की उत्पत्ति होती ही है। इसलिये क्रोध में भरकर राजा ने सब ब्राह्मणों का धन छीन लिया और उनका तिरस्कार करके उन्हें राज्य से निकाल दिया। इस पर कुछ ब्राह्मणों को क्रोध आ गया। उन्होंने क्रोध में भरकर राजा को शाप दिया—"तू काम के वशीभूत होकर हमारा अपमान करता है, शरीर-सुख को ही सब कुछ समझता है, अतः तेरा शरीर नष्ट हो जाय।"

ब्राह्मणों का शाप होते ही राजा की मृत्यु हो गई। इस पर बहुत से शान्तचित्त ब्राह्मणों ने उन शाप देने वाले ब्राह्मणों से कहा—"आप लोगों को ऐसा शाप देना उचित नहीं। राजा वेसे

धर्मात्मा थे ? प्रजा के लिये कल्पवृक्ष ही थे। उन्होंने जो कुछ किया, अपनी प्रिया की आसक्ति के ही कारण किया। हम लोगों का शस्त्र तो क्षमा ही है ?"

यह सुनकर शाप देने वाले ब्राह्मणों ने कहा—"क्या करें ? क्रोध से क्रोध उत्पन्न हो ही जाता है। हमसे भूल हुई। हमें क्षमा धारण करनी चाहिये थी अस्तु, हम तो शाप दे चुके। आप सब सामर्थ्यवान हैं। आप राजा को पुनः आशीर्वाद देकर जिला दें।"

यह सुनकर दूसरे शान्त-दान्त सदाचारी-तपस्वी ब्राह्मणों ने राजा को पुनः जीवित कर दिया।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जीवित होने पर राजा ने अपने को बार-बार धिक्कारा, अपने काम-भाव की निन्दा की। अब उन्हें राज-पाट अच्छा नहीं लगता था। अतः उन्होंने वन जाने का विचार कर लिया।"

छप्पय

बिनु पावक के पात्र लख्यो चित्त चिन्ता छाई।
गन्धर्वनि ने आइ नृपति कूँ युक्ति बताई॥
मथो अरणि, द्वै प्रगट होहि पावक मानों सुत।
कीन्हों मन्थन, भये प्रकट लै गये अनल युत॥
यज्ञ-याग पुर पहुँचि कैं, करे उर्वशी मिलन-हित।
दान, धर्म, शुभ कर्म, मख, करहिँ प्रिया महँ फँस्यो चित॥

पुरूरवा को गन्धर्वलोक की प्राप्ति

(७२९)

पुरुरवस एवासीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप।
अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमेयिवान्॥*

(श्रीभा० ९ स्क० १४ अ० ४९ श्लो०)

छप्पय

भयो काम तैं क्रोध, शाप विप्रनि ने दीन्हों।
जीवित है तप घोर जाइ बदरीवन कीन्हों॥
नारायण नें कृपा करी नृप स्वर्ग सिधाये।
निज शरीर के सहित गये सुर लखि हरषाये॥
सुरपति सँग बैठाइ कें, सब सुख-सामग्री दई।
पतिहिं पाइ पुनि उर्वशी, प्रेम-सहित प्रमुदित भई॥

किसी भी कामना से शुभ कर्म किये जायँ, उनका फल शुभ होगा ही। वैसे तो इन संसारी पदार्थों में—इन्द्रिय जन्य विषयों में—सुख है ही नहीं। इन वैषयिक पदार्थों का जितना ही अधिक

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन् ! महाराज पुरूरवा से ही त्रेतायुग के प्रारम्भ में आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—इन तीन अग्नियों का प्रादुर्भाव हुआ। महाराज उसी पुत्ररूप से मानी गई अग्नि के द्वारा गन्धर्वलोक को प्राप्त हुए।"

ध्यान करोगे, उतनी ही अधिक इनमें आसक्ति बढ़ती जायगी। जिसमें अधिक आसक्ति हो जाती है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त करने की कामना प्रबल हो जाती है। अपनी इच्छित वस्तु के न प्राप्त होने पर, कामना की पूर्ति न होने पर, क्रोध का होना स्वाभाविक है। क्रोधी पुरुष को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक तो रहता नहीं। अविवेकी पुरुष की स्मृति भ्रम में पड़ जाती है। स्मृति विभ्रम होने से मनुष्य का अन्त हो जाता है। महत् पुरुषों की कृपा से यदि पुनः स्मृति हो जाय, तो पुरुष अपनी इष्ट सिद्धि कर सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा पुरूरवा उर्वशी के लिये अत्यन्त ही अधीर हो गये, वे ब्राह्मणों से उर्वशी दिखाने को बहुत आग्रह करने लगे। ब्राह्मणों के असमर्थता प्रकट करने पर उन्होंने उनका सर्वस्व छीन लिया। इसमें कुछ ब्राह्मणों ने उन्हें शाप देकर निष्प्राण बना दिया। दूसरे ब्राह्मणों ने उन्हें जिला दिया। जब राजा को चेतना हुई और वे जीवित हो गये, तब उन्होंने अपने को धिक्कारा। तुरन्त ही वे अपने बड़े पुत्र आयु को राज्य सिंहासन पर बिठाकर, राज पाट सब छोड़कर, अग्नि होत्र के सहित, नर-नारायण की तपोभूमि, विशालापुरी, में चले गये। वहाँ जाकर वे विधि विधानपूर्वक दोनों समय अग्निहोत्र करते तथा फल-मूल खाकर निरन्तर घोर तपस्या में निरत रहने लगे। इस प्रकार तीन वर्षों तक वे बदरीवन में घोर तपस्या करते रहे। उनकी एकमात्र इच्छा उर्वशी को पाने की थी। भगवान् नारायण भी उनके मनोगत भाव को जानते थे। भगवान् तो कल्पवृक्ष के समान हैं। जीव जिस भावना से भी भावित होकर उनका भजन करता है, वे उसकी उस भावना को तो पूर्ण करते ही हैं, अंत में उसे अपने पद का भी अधिकारी बना देते हैं।"

जब राजा को नरनारायणाश्रम में तपस्या करते-करते तीन वर्ष हो गये, तब हँसते हुए भगवान् बोले—"राजन् ! आज आप की मनोकामना पूर्ण होगी। आज आप स्वर्ग में अपनी प्रियतमा को प्राप्त कर सकेंगे।"

यह सुनकर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने विधिवत् अग्निहोत्र किया। वे प्रतीक्षा में ही बैठे थे, कि उन्हें एक बड़ा भारी विमान दिखाई दिया। उसमें सहस्रों सुन्दर-सुन्दर गन्धर्व बैठे थे। अनेक सुर-सुन्दरी अप्सरायें अपनी चमक-दमक से उसे देदीप्यमान बनाये हुए थीं। उन सबसे घिरी स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी विराजमान थी। दूर से ही उर्वशी को देखकर राजा का हृदय-कमल खिल उठा। उर्वशी ने विमान से उतरकर राजा को प्रणाम किया। गन्धर्व भी उसके आस-पास खड़े हो गये।

राजा ने सबका अभिनन्दन किया। तब उनमें से एक गन्धर्व बोला—"राजन् ! आपने अपनी तपस्या के प्रभाव से गन्धर्वलोक को जीत लिया। अब आप कृपा करके इस विमान पर विराजें। आप गन्धर्वलोक में चलकर उर्वशी के संग आनन्द-विहार करें।" यह सुनते ही महाराज के कमल-नयन आनन्द से विकसित हो उठे। उन्होंने तुरन्त स्नान किया। नित्यकर्मों से निवृत्ति होकर अग्निहोत्र की अग्नि को उन्होंने आत्मस्थ किया; अर्थात् उसे अपने में लीन किया। फिर वहाँ के निवासी ऋषि मुनियों की चरण-वन्दना करके उनकी प्रदक्षिणा की और सबसे अनुमति लेकर वे सशरीर विमान पर बैठ गये। उन्हें मर्त्यलोक का शरीर त्यागना नहीं पड़ा। राजा के विमान में बैठते ही आकाश से दिव्य पुष्पों की वर्षा होने लगी, गन्धर्व गाने लगे, अप्सरायें नृत्य करने लगीं। विमान शनैः-शनैः ऊपर उठा और वह मानवीय दृष्टि से ओझल

हो गया। महाराज गन्धर्वलोक में जाकर आनन्द-विहार करने लगे। देवराज इन्द्र ने महाराज का हृदय से स्वागत किया। वे दूसरे इन्द्र की भाँति स्वर्ग में रहकर आनन्दोपभोग करने लगे। उर्वशी को साथ लिये हुए वे नन्दन-कानन, चैत्ररथ, विभ्राजक, आदि देवताओं के विहारवनों में स्वछन्द होकर भ्रमण करते। अमावस्या के दिन जब सूर्य-चन्द्रमा एक राशि पर आते, तब दोनों ही उर्वशी सहित पुरूरवा को देखने जाते। चन्द्रमा पौत्र को देखकर परम प्रमुदित होते। वात्सल्य-स्नेह के कारण उनके अंग से सुधारस चूने लगता। उसे पानकर पितर परितृप्त होते। इसी लिए अमावस्या के दिन पितरों के श्राद्ध का विधान है। अमावस्या के दिन पितरों का श्राद्ध सर्वश्रेष्ठ माना गया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार राजा पुरूरवा ने अपने प्रबल प्रयत्न द्वारा पुनः स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी उर्वशी को इसी मानव-शरीर से प्राप्त कर लिया। वे निरन्तर उसके साथ रमण करते, फिर भी तृप्त नहीं हुई। उनकी लालसा अत्यन्त बढ़ गई। वे विषय-सुखों में सलग्न हो गये। उनका चित्त चचल हो गया, वे अपने में एक प्रकार के अभाव का अनुभव करने लगे। जैसे अत्यन्त मीठा खाते-खाते मीठे से किसी की अरुचि हो जाती है, उसी प्रकार निरन्तर विषय भोगते भोगते भी वैराग्य हो गया। अब उन्हें उर्वशी के साथ उतना आनन्द नहीं आने लगा। उनका आकर्षण कम हो गया। देह से उनकी आसक्ति कम हो गई। अब वे सत् पदार्थ की चिन्ता करने लगे।"

छप्पय

पाइ अपसरा संग सुखी नृपति अति मन महँ।
दिव्य विमान चिठाइ प्रिया-सँग विहरें वन महँ॥
नित अधरामृत पान करें सुधि-बुधि बिसराई।
नहिं जानें कब दिवस होहि पुनि निशा कब आई॥
माह दाम महँ फँस्यामन, रहे अतृप्त दुखी सतत।
विषयनि महँ संतोष नहिँ, भयो फेरि नृप चित विरत॥

महाराज ऐल का विषयों से विराग

[७३०]

अहो मे मोह विस्तारः कामकश्मलचेतसः ।
देव्या गृहीत कण्ठस्य नायुः खंडा इमे स्मृताः ॥
नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया ।
मुषितो वर्ष पूगानां बताहानि गतान्युत ॥*
(श्री भा० ११ स्क० २६ अ० ७।८ श्लो०)

छप्पय

नृप कूँ भयो विवेक मोहनिद्रातें जागे ।
निज स्वरूप पहिचान विषय विष सम अब लागे ॥
अब न उरवशी भली लगे गुण सर्व बिलाने ।
समुझि दोष की खानि हाथ मल-मूल पछिताने ॥
हाड़, माँस मल-मूत्र को, तनु थैला दीखन लग्यो ।
भक्त भये भगवान् के, विषय-भोग मल-भ्रम भग्यो ॥

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब क्षुद्र कामों को भोगते-भोगते महाराज पुरूरवा को शान्ति नहीं मिली, तब उन्हें वैराग्य हुआ। वे कहने लगे—"अरे, मुझ काम से कलुषित चित्तवाले राजा के मोह का विस्तार तो देखो। देवी उर्वशी के कण्ठ मे बाँह डाले मैंने अपनी सम्पूर्ण आयु के इतने दिनों को, इतनी रात्रियों को, जाते हुए नहीं जाना, कब सूर्य नि-हारा। इस स्त्री के मोह-पाश में फँसकर मैंने यह भी नहीं जाना, कब सूर्य

जब तक मन विषयासक्त है, तब तक वैषयिक पदार्थों में अत्यन्त ही आकर्षण रहता है, मन तन्मय हो जाता है। जो अपने अनुकूल होता है, उसमें दोष दिखाई देते ही नहीं, वही जब मन के प्रतिकूल हो जाता है, तब उसमें दोष ही-दोष दिखाई देने लगते हैं। क्षणभंगुर वस्तु में फँसा मन जहाँ उसकी नश्वरता का अनुभव करता है, तुरन्त वहाँ से हट जाता है, क्योंकि जीव क्षणिक सुख नहीं चाहता, उसे तो शाश्वती शान्ति की प्यास है। इन इन्द्रिय-जन्य विषयों में शाश्वती शान्ति कहाँ? नश्वर पदार्थों में स्थाई सुख कहाँ रह सकता है? नाशवान् अविनाशी को कैसे प्राप्त करा सकता है? कहने सुनने से विराग नहीं होता। जब तक विषयों को भोगते भोगते उनकी यथार्थता का ज्ञान न हो, तब तक उनसे अरुचि नहीं होती, जब तक अरुचि नहीं, तब तक विराग नहीं, विराग के बिना त्याग नहीं, और त्याग के बिना शान्ति नहीं। अतः शान्ति का प्रधान कारण विषयों से पूर्ण विराग होना ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज ऐल इस सप्तद्वीपा वसुमती के एक मात्र चक्रवर्ती भूपति थे। वे राज राजेश्वर परम यशस्वी और सर्वप्रिय थे। किन्तु उनकी उर्वशी में अत्यधिक आसक्ति हो गई थी। उर्वशी के चले जाने पर वे अत्यन्त व्याकुल होकर उन्मत्तों की भाँति नग्नावस्था में ही 'हा प्रिये हा प्रिये' कहते हुए इधर-उधर वनों में भटकने रहे। अन्त में त्रयी विद्या के प्रभाव से—अग्नि की आराधना करने से—वे गन्धर्व-लोक को प्राप्त हुए। वहाँ उर्वशी में अत्यन्त ही आसक्त-चित्त होने से वे निरन्तर वैषयिक क्षुद्र सुखों को भोगते रहे। निरन्तर

उदय होता है कब अस्त। यह भी तो पता नहीं चला कि वे दिन किस प्रकार निकल गये।"

सभी इन्द्रिय सुखों को भोगते रहने पर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई। जैसे प्रज्वलित अग्नि को कोई घृत की आहुति दे-देकर शांत करना चाहे और वह शान्त न होकर और भी अधिकाधिक दीप्त होती जाय, उसी प्रकार वे विषयों के भोगों में शान्ति लाभ करना चाहते थे, किन्तु वे विषयों को भोगने से और भी अधिक अशांत बन गये। अब तो उन्हें संसारी विषयों की सत्यता में सन्देह होने लगा। अब वे उर्वशी के रूप को ध्यान से देखने लगे। वे सोचने लगे—जिसके पीछे मैं पागल बना हुआ हूँ, उसमें यथार्थ वस्तु क्या है? मैं इसके कमल के सदृश विकसित मुख पर, उभरे हुए वक्षःस्थल पर आसक्त हूँ। इनमें वास्तविक वस्तु क्या है? चर्म से ढँका मांस है, उसमें नाड़ी-नसें हैं, रक्त है, अस्थियाँ हैं, थूक है, कफ है। हाय! जिसे मैं सुख का साधन समझता था, वह तो अत्यन्त अपावन, नाशवान् वस्तुओं से निर्मित है। मेरा चित्त काम से कलुषित हो गया, उस पर मोह रूपी काई लग गई। कामिनी के कण्ठ में कर डालकर कामासक्त मैं अपने को कृतार्थ समझता था। यह मेरी भूल थी। अपनी आयु के ये अमूल्य क्षण मैंने व्यर्थ ही बिताये।

हाय! आँखों के रहते मैं अन्धा हो गया। मुझे इस उर्वशी के साथ रहते रहते कितने दिन व्यतीत हो गये? मास, वर्ष, युग तथा युग चौकड़ियाँ कितनी बात गईं? मेरा विवेक नष्ट हो गया। हाय! मैं तो इस स्त्री का पालतू बन्दर हो गया। उठरे बँदरा, बैठरे बँदरा, नाचरे बँदरा—यह कहती रहता और मैं विवेकहीन बना वही करता रहता।

इस अप्सरा की निस्पृहता तो देखो। मैं सप्तद्वीपा वसुमति का एक छत्र सम्राट् था। बड़े बड़े राजे-महाराजे आकर मेरे चरणों में प्रणाम करते। ऐसे मुझ राजशिरोमणि को, मेरे अपार

ऐश्वर्य को राज-पाट तथा धन धान्य सबको तृण के समान त्याग कर, यह विना मुझसे पूछे ही स्वर्ग चली गई, किन्तु मैं कामी इसका पीछा ही करता गया, जैसे गदही पीछे आने वाले गदहे को लात मारती रहती है, किन्तु वह निर्लज्ज कामी उसके पाद-प्रहारों को, प्रसन्नता पूर्वक सहता हुआ उसके पीछे ही पीछे लगा फिरता है।

हाय ! काम ने मुझे ठग लिया ! मैं कितना प्रभावशाली था। मेरा सब प्रभाव धूल में मिल गया ! उर्वशी के वियोग में नाल-वसेरे वस्त्रहीन पागलों की भाँति, जिन्होंने मुझे जाते देखा होगा, उन पर मेरे इस आचरण का क्या प्रभाव पड़ा होगा ? मैं कितना तेजस्वी था ? इन्द्र भी मुझे आधा आसन देते थे। जब से यह कामिनी मेरे मन में वस गई, तब से मेरा सब तेज नष्ट हो गया। इन्द्र की कौन कहे साधारण लोग भी मेरा अपमान करने लगे। मनुष्य का तेज तभी तक रहता है, जब तक उसके मन में कोई चाह न हो। चुड़ैल की चाह तेज का सर्वनाश कर देती है। कहाँ मैं सबका स्वामी था ! सब मेरे संकेत पर काम करते थे, सभी मेरी आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते थे। काम के वश होकर, मैं स्वामी होकर भी स्वयं कामिनी का दास बन गया। मेरा तेज, प्रभाव तथा स्वामित्व–सब चला गया। मैं क्या था, क्या हो गया ?

एक प्रबल काम सभी सद्गुणों को नष्ट कर देता है। कोई स्त्री है, उसने सभी शास्त्र पढ़े हैं, बड़े–बड़े विद्वान् उससे शंका-समाधान कराने आते हैं, बड़ी भारी तपस्विनी हैं, यथेष्ट दान भी देती है, निरन्तर शास्त्रों का अभ्यास करती है, सर्व संग छोड़ कर एकान्त में वास करती है, मौन रहती है। इतना सब करने पर भी यदि उसका चित्त किसी युवक में फँसा है, तो उसके सभी साधन

-व्यर्थ है। इसी प्रकार कोई भी साधक, कितना भी बड़ा गुणी, पण्डित, कलाकार, तपस्वी, विद्वान्, एकान्तसेवी, तथा मौनी क्यों न हो, यदि उसका चित्त किसी चंचला-चपला मदिरेक्षणा ने चुरा लिया है, तो उसके साधन-भजन उसी प्रकार व्यर्थ हैं, जिस प्रकार बुझी अग्नि की राख मे हवन करना व्यर्थ है।

देखो तो सही ! मैं अपने को कितना बड़ा पण्डित मानता हूँ, किन्तु मैं वास्तव में पण्डित न होकर पाण्डित्याभिमानी महा मूर्ख हूँ ! हित-अनहित को तो पशु-पक्षी भी जानते हैं, मैं तो उनसे भी गया बीता हूँ। पशु-पक्षी भी तो समय से ही काम के अधीन होते हैं। मैं तो अन्धे की भाँति कुछ भी न देख सका, अपने हित-अनहित, भले-बुरे सभी को भूल गया। ऐसे लोलुपाकामी को बार-बार धिक्कार है ! मैं समझता था, इस कामिनी के अधरों में अनुपम अमृत है। इसका पान करने से मेरी तृप्ति हो जायगी, किन्तु ज्यों-ज्यों मैंने इस मादक आसव का पान किया, त्यों-त्यों मेरी अशान्ति और भी बढ़ती गई। तृप्ति के स्थान में अधिकाधिक अतृप्ति होती गई।

देखो, यह कैसी प्रबल मोह-माया है ? जिस कामिनी का मन किसी कामुक के रूप में फँस गया है या किसी पुरुष का चित्त कुलटा के कुटिल कटाक्षों द्वारा आहत हो चुका है, उन्हे भगवान् अधोक्षज के अतिरिक्त कौन उबार सकता है ?

देखो, जब मैं बारह दिनों तक बिना खाये-पीये उसके लिये वन-वन भटक रहा था, तब वह मुझे कुरुक्षेत्र में मिली थी। मुझे उसने बार-बार समझाया, अनेकों बार कहा—"राजन् ! आप मुझे स्वर्ग की वारांगना के पीछे क्यों पागल हो रहे हैं ? आप मुझ गणिका के तुच्छ रूप पर इतने आसक्त हो रहे हैं ? हम किसी एक की होकर नहीं रहतीं। हमारा रूप-यौवन तो सबके भोगने

की वस्तु है। हमारा किसी से सौहार्द नहीं। कमलिनी स्वतः ही खिलती है, किन्तु मधु-लोलुप मूर्ख मधुप समझता है, यह मुझे ही रिझाने के लिये खिल रही है। हम स्त्रियों की दृष्टि स्वभाव से ही चंचला होती है। हमारे कटाक्षों में स्वतः ही कुटिलता होती है। कामी पुरुष समझते हैं, यह मेरे ऊपर ही अपनी अनुरक्ति दिखा रही है। यौवन के मद में मदमाती रहना, मन्द-मन्द विलास के साथ चलना—यह हमारा स्वभाव है। किन्तु रूपासक्त लंपट समझते हैं, यह सब मेरे ही प्रति स्नेह प्रदर्शित किया जा रहा है। तब मैंने उस देवी के कथन के तात्पर्य को नहीं समझा था, अब यह बात मेरी समझ में आ गई। उस समय तो मुझ अजितेन्द्रिय दुर्मति की बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। उर्वशी ने सत्य और सुन्दर उक्तियों द्वारा मुझे सब प्रकार से समझाया था, किन्तु उस समय मुझ मंदमति के मन का महामोह दूर नहीं हो सका।

मेरा यह कहना भी मूर्खतापूर्ण ही है, कि उस उर्वशी ने मेरा सर्वनाश किया। उसने तो मुझे बुलाया नहीं था। उसने तो मुझे काम की अनित्यता बताई थी। उसका तो कोई अपराध नहीं। मांस लोभ से मछली कांटे को निगल जाय, तो इसमें कांटे का क्या दोष? वीणा की ध्वनि में मत्त होकर मृग जाल में फँस जाय, अथवा पकड़ा जाय, तो वीणा का क्या दोष? मधु के लोभ से मधुप कमल के भीतर फँस जाय और मत्त हस्ती कमल को खा जाय, तो इसमें कमल का क्या अपराध? जलते हुए दीप की लौ देखकर पतंग उसमें शरीर को जला दे, तो दीपक का क्या अपराध? यदि मैं अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन रखता, उसके रूप पर आसक्त न होता, तो वह मेरा क्या अपकार कर सकती थी? दूर से मनुष्य टेढ़ी-मेढ़ी पड़ी हुई माला को भले ही सर्प समझे-समझता रहे, वह माला सर्प बनकर

उसे डँस तो नहीं सकती। यदि मैं उसे पाने के लिये पागल न होता, इतना प्रबल प्रयत्न न करता, तो वह चाहे जितनी सुन्दरी होती, बनी रहती; वह मेरा कुछ बिगाड़ तो नहीं सकती थी। कोई रस्सी को सर्प समझने लगे, तो समझने वाले का दोष है। रस्सी का तो दोष नहीं है! उर्वशी को मैंने सुख की खानि समझा! इसमें सम्पूर्ण दोष तो मेरा ही है।

भला, सोचने की बात है, असत् में कभी सत् रह सकता है? मिट्टी के पात्र में सिंहिनी का दूध ठहर सकता है? कोई कहे कि हम इस शरीर से प्रेम करते हैं, इसमें सौहार्द रखते हैं, तो यह मूर्खता है। शरीर बनता है भौतिक पदार्थों से; जो क्षणभंगुर है, नाशवान है, परिणामी है। प्रेम, सौहार्द, आदि दिव्य अलौकिक हैं। देह में ये कैसे रह सकते हैं? कोई कामिनी समझे, अमुक जार मुझसे बड़ा प्रेम करता है; या कोई जार समझे, अमुक स्त्री के मुख में अत्यन्त सौहार्द है, तो यह सबसे बड़ी मूर्खता है। जिस प्रकार तिमिर और प्रकाश साथ नहीं रह सकते, उसी प्रकार दुर्गंधि और मल-मूत्र से भरा शरीर और प्रेम साथ नहीं रह सकते। प्रेम अप्राकृतिक वस्तु है, अलौकिक है; उसका शरीर से क्या सम्बन्ध? यह सब अविद्या के कारण ही ऐसा होता है।

फिर यह शरीर किसी एक का है भी नहीं सभी इस पर अपना-अपना स्वत्व जताते हैं। माता-पिता कहते हैं—यह हमारे रज-वीर्य से बना है, इसे हमने पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है; इसलिये इस पर हमारा अधिकार है। धाई और गो कहती हैं, हमने इसे दूध पिला-पिलाकर पुष्ट किया है, न्यायतः हमारा इस पर स्वत्व होना चाहिये। स्त्री कहती है, मैं अर्धाङ्गिनी हूँ, शास्त्र की दृष्टि से मेरा इस पर अधिकार है। इस प्रकार पुरुष कहता है इस लड़की को इसके माता-पिता ने जब पैदा किया होगा, तब

किया होगा। अब तो यह मेरी धर्म-पत्नी है। इस पर मेरा पूर्ण अधिकार है। स्वामी कहता है, तुम मेरे यहाँ नौकरी करते हो, मेरे अन्न से पले हो, मेरा तुम्हारे शरीर पर अधिकार है। अग्निदेव कहते हैं, तुम सन वकते रहो, मरने पर तो मुझे ही इस शरीर को, भस्म करना है। अंत मे इसे मेरी ही शरण लेनी पड़ेगी। कुत्ता चील कौए, कछुए, तथा गृद्ध आदि माँस-भक्षी जीव कहते हैं, अग्नि तक यह पहुँचे तब तो! हम बीच में ही इसे चट कर जायँगे। इस पर अधिकार तो हमारा है।

जिस शरीर के बहुत से अधिकारी हैं, जिस पर अनेकों अपना स्वत्व स्थापित करते हैं, उसे सुख का साधन समझना अज्ञता नहीं तो क्या है! ऐसे अपवित्र और अंत में घृणित दशा को प्राप्त होने वाले शरीर में कौन मनुष्य सद्बुद्धि करेगा ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा विचार करके राजा उर्वशी के प्रति उदासीन हो गये। उनका मोह दूर हो गया।"

छप्पय

भयो ज्ञान तन नाशवान अविनाशी श्री हरि।
साधक तरे अनेक काम तजि प्रभु चिन्तन करि॥
नारि फँसे नर-रूप निरखि नर नारि-रूप महँ।
दोनों तजि परमार्थ गिरें जग-अन्ध-कूप महँ॥
चरम-मास-रज-वीर्य महँ, अज्ञ लिपटि समुझे सखी।
ज्यों-ज्यों विषयनि महँ फँसें होहिँ अधिक त्यों-त्यों दुखी॥

महाराज ऐल की मुक्ति

[७३१]

एवं प्रगायन् नृपदेवदेवः
स उर्वशीलोकमथो विहाय ।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै
उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥*

(श्री० भा० ११ स्क० २६ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

करै न कबहुँ संग कामिनी कामुक जन को।
नहीं करै विश्वास पंच इन्द्रिय अरु मन को॥
योगी, ज्ञानी, सिद्ध, विवेकी हू फँसि जावें।
त्यागि तपस्या योग काम भोगनि अपनावें॥
तातैं है निःसंग नित, निरत भजन ही महँ रहै।
विषयनि तैं बचि के चले, 'मम मन वश' कबहुँ न कहै॥

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! नरदेव-देव महाराज ऐल इस प्रकार कहते हुए उर्वशी के लोक को छोड़कर चले आये और अपने अन्तःकरण में आत्मारूप से स्थित परमात्मा को समझकर और उस आत्मज्ञान के द्वारा मोह-रहित होकर उपरत हो गये, अर्थात् संसार-बन्धन से मुक्त हो गये।"

किया होगा। अब तो यह मेरी धर्म-पत्नी है। इस पर मेरा पूर्ण अधिकार है। स्वामी कहता है, तुम मेरे यहाँ नौकरी करते हो, मेरे अन्न से पले हो, मेरा तुम्हारे शरीर पर अधिकार है। अग्निदेव कहते हैं, तुम सब बकते रहो, मरने पर तो मुझे ही इस शरीर को, भस्म करना है। अंत में इसे मेरी ही शरण लेनी पड़ेगी। कुत्ता चील कौए, कछुए, तथा गृद्ध आदि माँस-भक्षी जीव कहते हैं, अग्नि तक यह पहुँचे तब तो! हम बीच में ही इसे चट कर जायँगे। इस पर अधिकार तो हमारा है।

जिस शरीर के बहुत से अधिकारी हैं, जिस पर अनेकों अपना स्वत्व स्थापित करते हैं, उसे सुख का साधन समझना अज्ञता नहीं तो क्या है! ऐसे अपवित्र और अंत में घृणित दशा को प्राप्त होने वाले शरीर में कौन मनुष्य सद्बुद्धि करेगा?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा विचार करके राजा उर्वशी के प्रति उदासीन हो गये। उनका मोह दूर हो गया।"

छप्पय

भयो ज्ञान तन नाशवान अविनाशी श्री हरि।
साधक तरे अनेक काम तजि प्रभु चिन्तन करि॥
नारि फँसे नर-रूप निरखि नर नारि-रूप महँ।
दोनों तजि परमार्थ गिरें जग-अन्ध-कूप महँ॥
चरम-मांस-रज-वीर्य महँ, अज्ञ लिपटि समुझें सुखी।
ज्यों-ज्यों विषयनि महँ फँसें, होहिँ अधिक त्यों-त्यों दुखी॥

दिया जाय, तो चाहे कितनी भी सुन्दरी स्त्री का शरीर हो, या कितने भी सुन्दर पुरुष का, चील-गृद्ध ही इसे जीवित नोच ले जायँगे। त्वचा के भीतर भी कोई पवित्र वस्तु छिपी हो, सो भी बात नहीं। त्वचा के भीतर मांस, रक्त, नसें, मेद, अस्थियाँ, वीर्य ये ही सब अंट-संट वस्तुएँ हैं। उन्हीं वस्तुओं से पुरुष का शरीर बना है, उन्हीं से स्त्री का मुख है, इस पर चाम लगाकर काली-गोरी कलई कर दी गई है। इसके भीतर हड्डियों के टुकडे हैं। मांस की एक लाल-लाल जिह्वा है, जिस पर सफेद-सफेद मैल जम जाता है जिसमें उभरे हुए लाल-लाल दाने हैं। दातों की जडों से निरन्तर मैल निकलता रहता है। दाँतों में उँगली घिसकर नाक से सूँघें, कितनी दुर्गन्ध आवेगी? अच्छे से अच्छे सुगन्धित पदार्थ खाओ, मुख द्वारा पेट में जाते ही विकृत हो जाते हैं। उन का दुर्गन्धि युक्त मल बन जाता है। गुलाब जल, गगा जल— कितना भी सुगन्धित पवित्र जल पियो, पेट में जाते ही गन्धयुक्त मूत्र बन जाता है। यह शरीर क्या है? मल-मूत्र बनने का कार्यालय ही तो। जैसे कार्यालय में जो वस्तु बनती है, पहिले भाण्डार-गृह में एकत्रित होती रहती है, फिर आवश्यकतानुसार वह बिक्री के लिये नित्य निकाली जाती है, वैसे ही इस देह में नित्य मल-मूत्र, पसीना, कफ, वात, पित्त, रज, वीर्य आदि बनते रहते हैं, एकत्रित होते रहते हैं और भिन्न भिन्न द्वारों से निकलते रहते हैं। पेट में कितना मल जमा रहता है? देह के प्रत्येक छिद्र से पसीना—मल—निकलता रहता है। इसी घृणित शरीर में पुरुष सुखानुभव करता है। स्त्री पुरुष के शरीर में रमण करके अपने को सुखी समझती है, पुरुष स्त्री के अङ्गों में आनन्द का अनुभव करता है। यदि पीव, विष्ठा, रक्त में रमण करना ही सुख है, तब तो मल के कीडों में, घाव के कीडों में, वीर्य के

विवेक के उदय होने पर यह सत् है और यह असत्, इसका ज्ञान हो जाता है। जहाँ सत् असत् का ज्ञान हो गया, वहाँ असत् का छोड़कर जीव सत् को अपना लेता है। सत् को अपना लेने से जाव के सब बन्धन खुल जाते हैं। वह नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त तथा सत्स्वरूप बन जाता है। जीव असत् में सत् बुद्धि करके ही फँस जाता है, सुखाभास में ही सच्चा सुख समझकर चोरासी के चक्कर में पड जाता है, भ्रमवश, मोहवश, अज्ञानवश माया में फँसकर मायिक बन जाता है। माया का वास्तविक ज्ञान होने से ही उस पर विजय प्राप्त की जाती है। अब तक जो स्वामिनी थी, अपने पर आधिपत्य जमाये हुए थी, फिर वही चेरि बन जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज पुरूरवा का विषयों से विराग हो गया। अब उन्हें उर्वशी का वह रूप तुच्छ और घृणित दिखाई देने लगा। वे अपने को बार बार धिक्कारते हुए कहने लगे— 'हाय! यह साधक पुरुष विषयों में क्यों फँस जाता है? जिसका ध्यान करता है, उसी के अनुरूप बन जाता है विषयों का चिन्तन करते करते विषयी बन जाता है। एक बार इन्द्रसभा में मैंने इस बार वनिता को नाचते हुए देखा था। तभी भ्रम वश इसकी मूर्ति मेरे मन में गढ गई। मेरे मन में बार बार यह बात आती—"इसका कैसा, मन्द-मन्द मुसकान से युक्त मनोहर मुखारविन्द है? कैसी सुन्दर-सुहावनी नुकीली नासिका है? निरन्तर ऐसी भावना करते-करते मैं तन्मय हो गया, अपने सत्स्वरूप को भूल ही गया। अब सोचता हूँ, यह मेरी मूर्खता थी, बड़ा भारी अज्ञान था नहीं तो स्त्री के शरीर में ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसके पीछे पुरुष उन्मत्त हो जाता है? यदि शरीर के ऊपर त्वचा न हो और नंगा करके इसे खडा कर

दिया जाय, तो चाहे कितनी भी सुन्दरी स्त्री का शरीर हो, या कितने भी सुन्दर पुरुष का, चील-गृद्ध ही इसे जीवित नोच ले जायँगे। त्वचा के भीतर भी कोई पवित्र वस्तु छिपी हो, सो भी बात नहीं। त्वचा के भीतर मांस, रक्त, नसें, मेद, अस्थियाँ, वीर्य ये ही सब अंट-संट वस्तुएँ हैं। उन्हीं वस्तुओं से पुरुष का शरीर बना है, उन्हीं से स्त्री का मुख है, इस पर चाम लगाकर काली-गोरी कलई कर दी गई है। इसके भीतर हड्डियों के टुकड़े हैं। मांस की एक लाल-लाल जिह्वा है, जिस पर सफेद-सफेद मैल जम जाता है जिसमें उभरे हुए लाल-लाल दाने हैं। दांतों की जड़ों से निरन्तर मैल निकलता रहता है। दाँतों में उँगली घिसकर नाक से सूँघें, कितनी दुर्गन्ध आवेगी? अच्छे से अच्छे सुगन्धित पदार्थ खाओ, मुख द्वारा पेट में जाते ही विकृत हो जाते हैं। उन का दुर्गंधि युक्त मल बन जाता है। गुलाब जल, गगा जल—कितना भी सुगन्धित पवित्र जल पियो, पेट में जाते ही गन्धयुक्त मूत्र बन जाता है। यह शरीर क्या है? मल-मूल बनने का कार्यालय ही तो। जैसे कार्यालय मे जो वस्तु बनती है, पहिले भाण्डार-गृह मे एकत्रित होती रहती है; फिर आवश्यकतानुसार वह बिक्री के लिये नित्य निकाली जाती है, वैसे ही इस देह में नित्य मल-मूत्र, पसीना, कफ, वात, पित्त, रज, वीर्य आदि बनते रहते हैं, एकत्रित होते रहते हैं और भिन्न-भिन्न द्वारों से निकलते रहते हैं। पेट में कितना मल जमा रहता है? देह के प्रत्येक छिद्र से पसीना-मल-निकलता रहता है! इसी घृणित शरीर में पुरुष सुखानुभव करता है। स्त्री पुरुष के शरीर में रमण करके अपने को सुखी समझती है, पुरुष स्त्री के अङ्गों मे आनन्द का अनुभव करता है। यदि पीव, विष्ठा; रक्त में रमण करना ही सुख है; तब तो मल के कीड़ों में, घाव के कीड़ों मे, वीर्य के

कीड़ो मे, जूँओ मे और पुरुष मे क्या अन्तर रहा ? सड़े हुए घाव में कीड़े बिल-बिलाते रहते हैं, वे भी सड़े हुए रक्त-मांस को खाते हैं, उनमे क्रीड़ा करते हैं। यदि देह मे रमण करना ही सुख होता, तो ये कीड़े परम सुखी समझे जाते !

कोई कहता है—स्त्री दोषों की खान है। कोई कहता है—गिराने वाला पुरुष है, पुरुष प्रस्ताव न करे, तो स्त्री का साहस नहीं। वास्तव मे गिराने वाला न पुरुष है, न नारी। यह सब काम की करतूत है। काम सकल्प का सुत है। संकल्प से काम उत्पन्न होता है। काम तभी चरितार्थ होता है, जब स्त्री की पुरुष मे और पुरुष की स्त्री मे आसक्ति हो—दोनों का संग हो। विषयों की अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं। विषय बने रहें, इन्द्रियाँ उनमे प्रवृत्त न हों; तो कुछ भी बिगाड़ नहीं हो सकता। इन्द्रियों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है। इन्द्रियाँ बनी रहे, विषय भी उपस्थित हों, यदि मन के द्वारा इन्द्रियाँ उधर न देखे, तो वे दिखाई ही न देंगे। रूप को अकेले चक्षु नहीं देख सकते, जब तक मन के साथ उनका संयोग न हो। अकेले श्रवण शब्दों को नहीं सुन सकते, जब तक उसमें मन न लगाया जाय। मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है। मन चाहे कितना भी चला करे, कितनी भी उछल-कूद करे, जब तक बुद्धि आज्ञा न देगी, मन इन्द्रियों को विषय मे प्रवृत्त कर ही नहीं सकता। मन बुद्धि के अधीन है। बुद्धि से भी श्रेष्ठ काम है। काम-भाव उदय होते ही सब बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। आप कितना भी दृढ़ संकल्प करें, कितना भी बुद्धि पूर्वक निश्चय करें, जब हृदय में काम का प्रबल वेग उठता है, तब सब निश्चय धूल मे मिल जाते हैं। मनुष्य अवश होकर काम में प्रवृत्त हो जाता है। बड़े-बड़े विवेकी, ज्ञानी, बुद्धिमान, ऋषि-मुनि, जिन्होंने संसार को तृण के समान समझा था, जो राज-पाट, धन-ऐश्वर्य

सनको लात मारकर वन मे चले गये, उनका ही जब कामिनी से सयोग हुआ, तब वे सब जप-तप भूल गये, स्वर्गीय हो या भूतल की, उस कामिनी के चक्कर में फँस गय।

सर्वश्रेष्ठ बात तो यह है कि जहाँ तक हो, इन्द्रियों से विषयो का ससर्ग ही न होने पावे। जिस विषय को कभी देखा या सुना नहीं है, उससे चित्त मे उसकी वासना भी नहीं उठती। जैसे विदेश का कोई सुन्दर फल है, तो बडा स्वादिष्ट, किन्तु हमने कभी उसे खाया नहीं, तो वह सामने आ भी जाय, तो उसे खाने की इच्छा नहीं होती। यदि कभी एक बार उसके स्वाद का अनुभव कर चुके, तो उसे देखते ही उसे खाने की कामना हो जायगी। बहुत दिनो तक इन्द्रियो का विषयों से सयोग न हो तो पुरुष का चित्त शिथिल होकर शान्त तथा स्थिर हो जाता है। अतः मुमुक्षु का कर्तव्य है कि शक्तिभर विषयों से बचता रहे। घृत और अग्नि पृथक् पृथक् रखी रहें, कोई बात नहीं। जहाँ दोनो का सयोग हुआ कि घृत पिघलने लगता है, अग्नि प्रज्वलित होने लगती है। अतएव इन्द्रियों के द्वारा भी कभी पुरुषों को स्त्रियों का तथा स्त्रियो को स्त्रैण कामुक पुरुषों का भूलकर भी सङ्ग न करना चाहिये। सग होते ही मनुष्य फँस जाता है।

इस बात का कभी भी अभिमान न करे कि अब तो मैं इन्द्रियजित हो गया, मेरा मन मेरे अधीन हो गया। यह बडी भारी भूल है। मन-सहित इन पाँचो इन्द्रियों का विश्वास तो ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुषों को मरते-मरते भी न करना चाहिये। मन का पता नहीं, कहाँ ले जाकर किसे पटक दे। बडी सावधानी से इस पर अकुश रखने की आवश्यकता है। पहिले तो यह चिकनी-चुपडी बातें बनाता है। कहता है—अजी,

माता, बहिन, पुत्री को भी तो हम लोग छूते हैं—यह मेरी माता के समान है, बहिन के तुल्य है, पुत्री के बराबर है। ऐसा कहकर जब वह उन्हें स्पर्श करने लगता है, कान में आकर धीरे से मन कह देता है—अजी, यह मेरी सगी माता, बहिन या पुत्री थोड़े ही है! बस, झट आदमी काम के फन्दे में फँस जाता है। इसलिये मुमुक्षु को इस बात का बड़ा ध्यान रखना चाहिये। चाहे युवती अपनी सगी माता, पुत्री, प्राप्तवयस्का भगिनी ही क्यों न हो, एकान्त में किसी का सग न करे, अधिक बातें न करे, एक आसन पर सटकर न बैठे। काम बड़ा प्रबल शत्रु है, इसे अवसर देना ही न चाहिये। विवेकी-ज्ञानी पुरुष भी इसके फन्दे में फँस जाते हैं, फिर मैं तो एक अज्ञानी राजा ही ठहरा। अस्तु, बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेउ। बहुत दिन तक भूला रहा, अब कभी न भूलूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार महाराज ऐल ने यह आध्यात्मिक ज्ञानपूर्ण गीत गाये। वे तुरन्त उर्वशी के लोक को छोड़कर चले आये। उन्होंने पुनः पृथ्वी पर आकर आत्मरूप से स्थित परमात्मा को जानकर समस्त मोह ममता का परित्याग कर दिया। आत्मज्ञान के प्रभाव से वे इहलोक-परलोक के समस्त दृष्ट और श्रुत भोगों से उपरत होकर, अपने सत्स्वरूप में स्थित हो गये। वे शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरंजन, निष्कल ब्रह्म को जानकर तन्मय हो गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने यह अत्यन्त संक्षेप में प्रतिष्ठानपुराधीश महाराज पुरूरवा की कथा कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने ऐसी विषयासक्ति की कथा क्यों सुनाई?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! यह जीव विषयों में आसक्त हुआ ही तो संसार-चक्र में भटक रहा है ? जो संसारी बन्धनों से मुक्त हैं, उन्हें तो सुनाना ही क्या ? यह केवल प्रतिष्ठानपुराधीश पुरूरवा की ही कथा नहीं है। जीवमात्र की यह कथा है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना—ये ही गङ्गा, यमुना और सरस्वती हैं। इनका जहाँ संगम है, वहीं प्रतिष्ठानपुर है। यह मनुष्य देह ही प्रतिष्ठानपुर है। इसका स्वामी जो जीव है, वही पुरूरवा है। अविद्या-रूपी रम्भा के साथ मायारूपी उर्वशी इसे घेर लेती है, तो यह आत्मविस्मृत हो जाता है। बहुरुपिणी माया जीव को नित्य प्रति शिक्षा देती है। मायिक पदार्थ क्षणभंगुर हैं, अशाश्वत हैं, परिणामी हैं, पल-पल पर माया से इसकी शिक्षा प्राप्त होती है। नित्य कितने आदमी तो मरते हैं, बालक से युवा और युवा से बूढ़े होते हैं। आज जो सुन्दर दीखते हैं कल वे ही असुन्दर हो जाते हैं। युवक के मुख पिचक जाते हैं, स्वस्थ अस्वस्थ बन जाते हैं। बोलते-बोलते मनुष्य मर जाते हैं। कल तक जो महलों मे भाँति-भाँति के विषयों का प्रमत्त होकर उपभोग कर रहे थे, आज वे द्वार-द्वार के भिखारी बन जाते हैं, मुट्ठी-मुट्ठी भर अन्न के लिये तरसते हैं। इन परिवर्तनों को भी देखकर जीव का माया से विराग नहीं होता, बल्कि यह उससे अधिकाधिक चिपटता-लिपटता जाता है। भगवान् की आराधना भी करेगा, तो माया की प्राप्ति के ही लिये। उर्वशी रूपी माया ने इसे रूप जाल में ऐसे कसकर बाँध लिया है कि साक्षात् भगवान् के स्थान विशाला पुरी मे भी जाकर माया को ही माँगता है। इतना ही अच्छा है कि उसे भगवान से ही माँगता है, भगवान् का ही आश्रय ग्रहण करता है। यदि यह नि से माया माँगे, तब तो वे उसे मार ही डालें,

विषय के ही कीड़े हैं। वाँछा-कल्पतरु भगवान् पहिले इसकी इच्छा की पूर्ति करते हैं—इसे माया देते हैं। यह अनुभव करने लगता है कि चाहे सात भू विवरों की माया हो, या सात स्वर्गों की दिव्य या भौतिक, सब एक सी ही है। ब्रह्मलोक से लेकर पृथ्वी तक सभी पुनरावृत्ति वाले लोक हैं। सब में माया है। कहीं सूक्ष्म है, कहीं स्थूल। चींटी से ब्रह्मा तक सभी माया के चक्कर में बँधे घूम रहे है। इन्द्र अपनी सुन्दरी इन्द्राणी के साथ जितना सुखी है, उतना ही कुत्ता कुतिया के साथ। दोनों ही विषय के अधीन हैं, काम के दास हैं। 'ससारी विषयों मे अतृति है अशान्ति है, भगवत् कृपा से ऐसा विवेक होते ही जीव का मोह दूर हो जाता है। तब वह कामी और कामिनियों का सग न करके निष्काम कर्म करने वाले, भगवान् मे ही सदा चित्त को लगाये रहने वाले, अत्यन्त शान्त, समदर्शी, ममता शून्य, अहकार रहित, द्वन्द्वहीन, अकिंचन, भगवद्भक्तो का सग करने लगता है। भक्तो के सग से उसकी विषय वासना का अनुराग कम होने लगता है। माया के वन्धन ढीले होने लगते हैं। फिर इस बहुरूपिणी ठगिनी माया का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। उसकी यथार्थता का बोध जीव को हो जाता है। तब वह माया छोड़कर भगवान् की ओर चित्त लगाता है। जो आकर्षण अब तक विषयों में था, वह अब मायाधीश विश्वम्भर में हो जाता है। तब जीव कृतार्थ हो जाता है। उसके सब दु ख द्वन्द्व विलीन हो जाते हैं। वह कृतकृत्य होकर अपने सत्स्वरूप का अनुभव करने लगता है। यही इस पुरुरवा उर्वशी के चरित का आध्यात्मिक अर्थ है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने यह रूपक के द्वारा बड़ा ही सुन्दर आध्यात्मिक विवेचन किया। अब हम पुरूरवा से

आगे चन्द्रवंश के अन्य प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजाओं का चरित सुनना चाहते हैं। उर्वशी के गर्भ से महाराज पुरूरवा के आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय—ये ६ पुत्र आपने बताये। इनके वश में जो अत्यन्त प्रसिद्ध राजा हुए हों, उनकी क[illegible] आप मुझे सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है [illegible] में ऐल वश के मुख्य-मुख्य राजाओं का वृत्तान्त सुनाता [illegible] इसे दत्तचित्त होकर सुनें।"

छप्पय

यों करि मनहिँ प्रबोध भये विषयनि तें [illegible]।
त्यागि उरवशी लोक आत्मसुख माहिँ नि[illegible]॥
बिखरी मन की वृत्ति योग तैं वश-महँ [illegible]।
करि स्वरूप सन्धान, चित्त कूँ शिक्षा [illegible]॥
मन पुरूरवा, उरवशी—माया पुर तन [illegible] कहैं।
फँसि के ताके फन्द महँ, जीव त्रिविध विधि दुख सहैं॥

—:※:—

महाराज जह्नु की कथा

[७३२]

भीमस्तु विजयस्याथ काञ्चनो होत्रकस्ततः।
तस्य जह्नुः सुतो गङ्गां गण्डूषीकृत्य योऽपिबत्॥*
(श्री भा० ६ स्क० १५ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

भये ऐल के विजय विजय के भये भीम सुत।
तिनि के काञ्चन भये होत्र तिन भये धर्मयुत॥
होत्र पुत्र जग माहिँ जह्नु ऋषि बड़े तपस्वी।
गङ्गा सब पी गये जगत् महँ भये यशस्वी॥
मख-सामग्री गंग ने, जल महँ दई डुबोइ जब।
पान करीं जनि कान तें, भयो जाह्नवी नाम तब॥

तपस्वी अपनी तपस्या के प्रभाव से क्या नहीं कर सकता? यह जगत् पंचभूतात्मक है। योगी अपने योग बल से इन सब पर विजय प्राप्त कर सकता है, पृथ्वी को हिला सकता है, जल का स्तम्भन कर सकता, है सूर्य की गति रोक सकता है। कहने का

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विजय के पुत्र महाराज भीम हुए। उनके काञ्चन, काञ्चन के होत्र और होत्र के पुत्र महाराज जह्नु हुए, जो गङ्गाजी को अंजलि से भरकर पी गये थे।"

सारांश यही कि वह चाहे जो कर सकता है, उसके लिये कुछ भी कठिन नहीं, दुष्कर या असंभव नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं यह बात तो पहिले ही बता चुका हूँ, कि महाराज पुरूरवा से उर्वशी के गर्भ से छः पुत्र उत्पन्न हुए। पांच तो प्रतिष्ठानपुर में हुए, अन्तिम छठे जय को उर्वशी कुरुक्षेत्र मे देकर चली गई थी। महाराज अपने सबसे बड़े पुत्र आयु को राज्यसिंहासन पर बिठाकर बदरीवन चले गये। उनमें से श्रुतायु नामक सुत के वसुमान नामक पुत्र हुआ। सत्यायु के श्रुतंजय, रय के एक और जय के अमित नामक पराक्रमी सुत हुए। विजय के पुत्र भीम थे, भीम के कांचन, उनके होत्र और होत्र के पुत्र राजर्षि जह्नु हुए।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने महाराज ऐल के सबसे बड़े पुत्र आयु के वंश का वर्णन न करके, छोटे पुत्र श्रुतायु, सत्ययायु, रय, विजय और जय—इनके वंश का वर्णन क्यों किया?"

सूतजी बोले—"महाराज! मुझे नियमानुसार करना तो चाहिये आयु के ही वंश का वर्णन, किन्तु एक सूची-कटाह न्याय है। लुहार के पास कोई एक कड़ाह बनवाने गया, उसके पीछे दूसरा सूई बनवाने। लुहार ने पीछे आने वाले की सुई बना दी। किसी ने पूछा—"कड़ाह बनवाने वाला तो पहिले आया था, उसका काम पहले करके तब तुम्हें पीछे आने वाले का काम करना चाहिये था तुमने पहिले उसकी सूई क्यों बना दी?" लुहार ने कहा—"सूई मे तो कुछ श्रम नहीं, विस्तार नहीं, तनिक देर में बनाकर झंझट काट दिया। कड़ाह के बनाने में तो विस्तार करना है।" इसी प्रकार श्रुतायु आदि के वंशो को तो संक्षेप में कहना है, अतः इसे कहकर आयु के वंश का विस्तार करेंगे।"

शौनकजी ने कहा—"तब सूतजी ! आपने इनके वंश को छोड़ ही क्यों नहीं दिया ? आप ऐसा पीछे करते भी आये हैं, बड़े के वंश का वर्णन किया, छोटों को छोड़ दिया।"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! ऐसा तो मैंने किया ही है। सब के वंश का वर्णन करूँ, तब तो ब्रह्माजी की सम्पूर्ण आयु में भी पूरा न हो। इन पांचों के वंश का भी मैंने केवल दिग्दर्शन-मात्र करा दिया है। केवल कथा-प्रसङ्ग मिलाने को एक-आध पीढ़ी कह दी है किन्तु विजय के वंश के सम्बन्ध में मैं ऐसा नहीं कर सकता; क्योंकि इस वंश में भगवान् विश्वामित्र उत्पन्न हुए है और भगवान् के अवतार परशुरामजी का सम्बन्ध भी इसी कुल से है। आप सब अवतार-कथा प्रिय हैं, मुझे भी भगवान् के अवतारो की कथा कहने मे अत्यधिक आनन्द आता हैं। इस वंश-प्रसङ्ग मे परशुराम–चरित हैं। इसीलिये इसका विस्तार करता हूँ। परशुराम–चरित के अनंतर मैं महाराज पुरूरवा के सबसे ज्येष्ठ–श्रेष्ठ पुत्र 'आयु' के वंश का वर्णन करूँगा।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए शौनकजी ने कहा—"साधु, साधु ! बड़ी सुन्दर बात है। हाँ, तो आप विजय–वंश का वर्णन करें। हाँ तो होत्र के पुत्र राजर्षि जह्नु हुए और जह्नु पुत्र कौन हुए ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! जह्नु के पुत्र पुण्यश्लोक पुरु हुए। ये राजर्षि जह्नु वे ही हैं जो सम्पूर्ण गंगाजी के जल को एक चुल्लू में पी गये थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! राजर्षि जह्नु गंगाजी के समस्त जल को क्यों पी गये ? यह तो बड़े ही आश्चर्य की बात है ! इस कथा को आप हमें अवश्य सुनावें।"

५
६

सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! यह कथा तो बहुत बड़ी है। फिर सूर्यवंशी महाराज सगर के कथा प्रसङ्ग में मैं इसका वर्णन कर ही चुका हूँ। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में केवल राजर्षि जह्नु के प्रसङ्ग को सुनाता हूँ।

यह तो आप जानते ही होंगे कि गिरिराज हिमालय के उमा और गङ्गा—दो पुत्रियाँ थीं। गङ्गा परम पावन थीं, वह विष्णु-पादाब्जसंभूता थीं, अतः उन्हें देवताओं ने स्वर्ग के लिये माँग लिया। उमा का विवाह शिवजी के साथ हो गया। गङ्गा अपने पिता की गोद में आना चाहती थीं किन्तु स्वार्थी देवता उन्हें आने देना नहीं चाहते थे। अपनी वहिन का विवाह हो जाने पर उनकी इच्छा भी विवाह करने की थी, किन्तु उन्हें तो पिता ने देवताओं को दे दिया था। वह मन मसोस कर रह जातीं और स्वर्ग का परम पावन बनाती हुई आकाश में प्रवाहित रहती।

बहुत दिनों के पश्चात् महाराज सगर ने एक अश्वमेध यज्ञ किया। इन्द्र उनके यज्ञ के घोड़े को चुरा ले गये। सगर पुत्रों ने पृथ्वी को खोदा, कपिलाश्रम पर घोड़ा पाकर वे मुनि पर कुपित हुए और मुनि के देखते ही अपने अपराध से सब-के-सब भस्म हो गये। सगर के दूसरे पुत्र असमजस के पुत्र अंशुमान ने भगवान् की स्तुति की। भगवान् कपिल ने अंशुमान को गङ्गाजी को लाने के लिये आज्ञा दी ! अंशुमान तपस्या करते-करते मर गये, गङ्गा नहीं आईं। स्वर्ग से गङ्गाजी का भूतल पर आना सामान्य बात नहीं थी। किन्तु राजाओं ने साहस नहीं छोड़ा। अंशुमान के पुत्र परम प्रतापी महाराज दिलीप हुए। वे भी तपस्या करते-करते मर गये, गङ्गा प्रसन्न न हुईं। भगीरथ का भाग्य प्रबल था, उसकी उग्र तपस्या से गङ्गा जी प्रसन्न हुईं और आने की अनुमति दे गङ्गाजी चंचला-चपला बालिका ही ठहरीं। उनकी ...

मे चचलता भरी थी। वह बोली—"मेरे वेग को धारण कौन करेगा ?"

महाराज भगीरथ बोले—"सर्वलोकेश्वर भगवान् शिव तुम्हें धारण करेंगे।"

गङ्गा हँस पड़ीं। उसने सोचा, चलो, शिवजी से इसी व्याज से साक्षात्कार हो जायगा। वे मेरी बहिन के पति हैं। जीजाजी से कुछ हँसी-दिल्लगी ही हो जायगी। मैं अपने प्रबल वेग से उन्हें बहाती हुई पाताल में ले जाऊँगी और फिर हँसकर कहूँगी, जीजाजी, राम-राम! कहो कैसी रही? तुम मुझे मेरी बहिन की भाँति सीधी सादी समझते होगे।" यह सब सोचकर गङ्गाजी ने भगीरथ से कहा—"शिवजी को मुझे धारण करने को सहमत कर लो, मैं भूतल पर चलने को तैयार हूँ।"

भगीरथ ने भगवान् भूतनाथ को प्रसन्न किया। उन आशुतोष को प्रसन्न करना कौन-कठिन कार्य है? उन्होंने अनुमति दे दी। वैसे तो भोले-भाले हैं, किन्तु हँसी विनोद में तो वे भी सब के कान काटते हैं! वे अपनी साली के अभिप्राय को समझ बैठे गये कैलाश के शिखर पर। हर हर करती हुई गाती चिल्लाती-इठलाती गङ्गा आकर बड़े वेग से शिवजी के सिर पर गिरी। वे बहुत उछली कूदीं, बहुत तड़क भड़क दिखाई, किन्तु लटरिया बाबा की जटाओं में फँस गई। वर्षों तक वहीं चक्कर काटती रहीं। एक बूँद भी जल पृथ्वी पर नहीं गिरा। भगीरथजी घबड़ाये, साली बहनोई के हँसी विनोद में मैं बीच में ही मारा गया! उन्होंने शिवजी की एक जटा से एक धार निकाली। उससे सात धारायें हो गईं। एक धारा को लेकर भगीरथजी दक्षिण समुद्र की ओर चले। भगीरथ के लाने के कारण ही गंगाजी का नाम 'भागीरथी' पड़ गया।

जिन दिनों गंगा भूतल पर अवतरित हो रही थी, उन्हीं दिनों राजर्षि जह्नु ब्रह्मावर्त में यज्ञ कर रहे थे। बहुत दूर तक उनके यज्ञ की वेदियाँ बनी थी। अनेक प्रकार की सामग्रियाँ वहाँ फैली हुई थी। महाराज बड़ी तत्परता से यज्ञ की वस्तुओं को सम्भाल-सम्भाल कर रख रहे थे। उधर से भगीरथ के रथ

के पीछे-पीछे गंगाजी भी जा रही थीं। चंचल प्रकृति के लड़के—

लड़कियों को बूढ़े आदमियों को चिढ़ाने में आनन्द आता है! गङ्गाजी को भी हँसी सूझी। "इस बूढ़े को अपना कुछ चमत्कार दिखाऊँ", यह सोचकर वे भगीरथ के रथ के पीछे से हटकर जह्नु की यज्ञ भूमि के समीप दौड़ गईं और अपने जल के वेग से उनकी सामग्रियो को डुवोकर 'हा हा' कर के हँस पड़ीं। बूढ़े जह्नु को गङ्गाजी की इस चंचलता पर वड़ा क्रोध आया। वे सोचने लगे—"यह लड़की मुझसे हँसी करती है! अच्छी वात है, इसे इसका फल चखाता हूँ।" यह कहकर वे गगाजी के सम्पूर्ण जल को एक चुल्लू में भर कर पी गये। गंगा की ठिठोली भूल गई! हँसी मे खसी हो गई!"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इतनी वड़ी गंगा के जल को महाराज जह्नु चुल्लू मे भरकर कैसे पी गये? यह वात हमारी समझ में नहीं आती। फिर सब जल को कैसे पी गये होंगे? धारा तो हिमालय से अखण्ड वहती हुई आ रही थी।"

सूतजी वोले—"महाराज? योग मे सब सामर्थ्य है। उन्होंने योगवल से उद्गम को रोक दिया, जल को स्तंभित कर दिया और अपने मे वड़वाग्नि का आवाहन करके सब जल को सोख लिया।

महाराज भगीरथ ने सोचा, यह दूसरी विपत्ति सामने आई। लड़कियाँ वड़ी चंचल होती हैं। उन्होंने राजर्षि जह्नु की प्रार्थना की। गंगाजी भी सिटपिटा गईं, वोलीं—"पिताजी! मुझे छोड़ दें, मैं आपकी वच्ची हूँ।"

वालकों के पास यही एक अमोघ अस्त्र है—किसी वड़े पुरुष या वड़ी स्त्री के प्रति अपराध हो जाय, तो हाथ जोड़कर कह दे—"हम तो तुम्हारी संतान हैं।" संतानों के अपराधों की ओर माता-

पिता ध्यान नहीं देते। महाराज जह्नु ने गंगाजी को कान से निकाल दिया। तब भगीरथ उन्हें लेकर आगे बढ़े।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गङ्गाजी जह्नु महर्षि के उदर में जाकर पुनः प्रकट हुईं और उन्होंने जह्नु को अपना पिता कहा। इसलिये भागीरथी गंगा का नाम जाह्नवी हो गया।

छप्पय

जह्नु तनय नृप पुरु पूरु के पुत्र बलाक हु।
परम प्रसिद्ध बलाक भये तिनके सत अजक हु॥
अजक जगत महँ भये यशस्वी तिनके कुश सुत।
तिन तैं कौशिक गोत्र भयो जग माँहिं धरमयुत॥
पुत्र चारि तिनके भये, भिन्न-भिन्न पुर के अधिप।
श्रीकुशाम्बु मूतप बसू, चौथ भये कुशम्बु नृप॥

कुशनाभ-चरित

[७३३]

जह्नोस्तु पुरुस्तत्पुत्रो बलाकश्चात्मजोऽजकः।
ततः कुशः कुशस्यापि कुशाम्बुस्तनयो वसुः।
कुशनाभश्च चत्वारो गाधिरासीत् कुशाम्बुजः॥*

(श्री भा० ९ स्क० १५ अ० ३, ४ श्लोक)

छप्पय

अति सुन्दर कुशनाभ घृताची लखि नृप हट व्रत।
पत्नी बनि कें रही भई तातें कन्या शत॥
कन्या क्रीड़ा करहिं अनिल तिनके ढिंग आया।
करयो ब्याह-प्रस्ताव कुमारिनि ने ठुकरायो॥
कुपित वायु अति ही भयो, सब कन्या कुबरी करीं।
रोवत सब पितु ढिँग गईं, नृप चरननि महँ गिरि परीं॥

महापुरुषों के चरणों का आश्रय ग्रहण करने से प्राणी सभी दुःखों से छूट जाता है। मनुष्य क्रुद्ध हो गया हो, भूत, प्रेत,

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! राजर्षि जह्नु के पुत्र पुरु हुए। पुरु के बलाक और बलाक के पुत्र अजक हुए। अजक के पुत्र कुश हुए। कुश के कुशाम्बु, मूर्त्त, वसु और कुशनाभ—ये चार पुत्र हुए। कुशाम्बु के पुत्र महाराज गाधि हुए।'

पिशाच, पितर अथवा देवता क्रुद्ध हो गये हों, औरों की तो बात ही क्या, भगवान भी यदि क्रुद्ध हो गये हों, और प्राणी महापुरुषों की शरण में जाय, तो सभी का क्रोध शान्त हो जाता है, सभी प्रकार के शापों का अन्त हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने प्रसगवश राजर्षि जह्नु के गगापान तथा गगाजी के जाह्नवी नाम पडने का कारण बताया। अब आप महाराज जह्नु से आगे के राजाओं का वृत्तान्त सुनें। राजर्षि जह्नु के पुत्र पुरु हुए। पुरु के पुत्र धर्मात्मा महाराज वलाक हुए। वलाक के अजक नामक पुत्र हुए। महाराज अजक या अज्ञ के पुत्र राजर्षि कुश हुए। ये कुश बडे ही यशस्वी हुए। इनके नाम से ही कौशिक गोत्र उत्पन्न हुआ। महाराज कुश ने विदर्भ देश की राजकुमारी वैदर्भी से विवाह किया। इसके गर्भ से महाराज के अत्यन्त ही धर्मात्मा यशस्वी चार पुत्र हुए। उनमें सबसे बडे महाराज कुशाम्बु हुए। भूतप, वसु और कुशनाभ—ये तीन छोटे थे। इनमें महाराज कुशनाभ बडे ही यशस्वी हुए। ये इतने सुन्दर थे कि स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा घृताची इनकी पत्नी बनकर रही। महाराज ने उस घृताची अप्सरा के गर्भ से १०० कन्यायें उत्पन्न कीं। वे वायु के क्रोध से कुबडी हो गई थीं, किन्तु महर्षि चूली के पुत्र राजर्षि ब्रह्मदत्त के प्रताप से पुनः रोगमुक्त हो गई।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! महाराज कुशनाभ की कन्याओं पर वायु ने कोप क्यों किया? पुनः राजर्षि ब्रह्मदत्त ने उन पर कैसे कृपा की? कृपा करके इस कथा को हमें सुनाइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है, मुनिवर! पहिले

मैं इस कथा को सुनाकर तब आगे के राजाओं के वंश का वर्णन करूँगा।"

महाराज कुश के चार पुत्रों मे से सबसे बड़े धर्मात्मा महातेजस्वी कुशाम्बु ने कौशाम्बी नामक पुरी बसाई और उसमें धर्मपूर्वक राज्य करने लगे। भूतप अथवा असूर्त्तरजस ने धर्मारण्य नामक नगर बसाया और वसु ने गिरिव्रज नामक नगर बसाया, जिसके चारों ओर पर्वत हैं, सुमागधी नाम की नदी उसकी शोभा बढाती है। धर्मात्मा कुशनाभ ने महोदय (कन्नौज) नामक पुरी बसाई और उसी मे राज्य करने लगे। गंगाजी और कालिन्दी के संगम के समीप यह अत्यन्त पवित्र नगरी थी। इसके चारों ओर वन, उपवन, और भाँति-भाँति के सुगन्धित पुष्पोंवाले रमणीय उद्यान तथा वन थे। राजा इतने सुन्दर थे कि घृताची अप्सरा स्वर्ग से इनके दर्शन करने आई और इनके रूप पर मुग्ध होकर इनकी पत्नी बनकर रहने लगी। उस घृताची अप्सरा से राजा ने अत्यन्त सुन्दरी १०० कन्यायें उत्पन्न कीं। वे कन्यायें इतनी सुन्दरी थीं, कि स्वर्ग की ललनायें उनके रूप को देखकर ईर्ष्या किया करती थीं। वे रूप-यौवन से सम्पन्न कन्यायें जब वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर उद्यान में क्रीडा करतीं, तो ऐसी लगतीं, मानों सैकड़ों रतियाँ विहार कर रही हों। वे सभी गाने बजाने और नाचने मे अत्यन्त ही निपुण थीं। वे अलौकिक रूपराशिवाली सर्वाङ्ग-सुन्दरी कन्यायें अपने शरीर और आभूषणों की आभा से उद्यानभूमि-रूपी नभ में विद्युत् के समान चमक रही थीं उनके सौन्दर्य पर सब में समान रूप से विचरण करने वाले वायुदेव आसक्त हो गये। उन्होंने उन कन्याओं से कहा—"राजकुमारियो ! तुम परम सुन्दरी हो, स्वर्गीय ललनायें भी तुम्हारे सौन्दर्य की बराबरी नहीं

मैं इस कथा को सुनाकर तब आगे के राजाओं के वंश का वर्णन करूँगा।"

महाराज कुश के चार पुत्रों में से सबसे बड़े धर्मात्मा महातपस्वी कुशाम्बु ने कौशाम्बी नामक पुरी बसाई और उसमें धर्मपूर्वक राज्य करने लगे। भूतप अथवा असूर्त्तरजस ने धर्मारण्य नामक नगर बसाया और वसु ने गिरिव्रज नामक नगर बसाया, जिसके चारों ओर पर्वत है, सुमागधी नाम की नदी उसकी शोभा बढ़ाती है। धर्मात्मा कुशनाभ ने महोदय (कन्नौज) नामक पुरी बसाई और उसी में राज्य करने लगे। गंगाजी और कालिन्दी के संगम के समीप यह अत्यन्त पवित्र नगरी थी। इसके चारों ओर वन, उपवन, और भाँति भाँति के सुगन्धित पुष्पोंवाले रमणीय उद्यान तथा वन थे। राजा इतने सुन्दर थे कि घृताची अप्सरा स्वर्ग से इनके दर्शन करने आई और इनके रूप पर मुग्ध होकर इनकी पत्नी बनकर रहने लगी। उस घृताची अप्सरा से राजा ने अत्यन्त सुन्दरी १०० कन्यायें उत्पन्न कीं। वे कन्यायें इतनी सुन्दरी थीं, कि स्वर्ग की ललनायें उनके रूप को देखकर ईर्ष्या किया करती थीं। वे रूप-यौवन से सम्पन्न कन्यायें जब वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर उद्यान में क्रीडा करतीं, तो ऐसी लगतीं, मानों सैकड़ों रतियाँ विहार कर रही हों। वे सभी गाने बजाने और नाचने में अत्यन्त ही निपुण थीं। वे अलौकिक रूपराशिवाली सर्वाङ्ग-सुन्दरी कन्यायें अपने शरीर और आभूषणों की आभा से उद्यानभूमि रूपी नभ में विद्युत् के समान चमक रही थीं उनके सौन्दर्य पर सब में समान रूप से विचरण करने वाले वायुदेव आसक्त हो गये। उन्होंने उन कन्याओं से कहा—"राजकुमारियो ! तुम परम सुन्दरी हो, स्वर्गीय ललनायें भी तुम्हारे सौन्दर्य की बराबरी नहीं

कर सकतीं। स्वर्ग में भी मैंने ऐसी सुन्दरी सुराङ्गनायें नहीं देखी। इतना होने पर भी तुम मर्त्यलोक की ही तो हो। तुम एक काम करो। मैं चराचर में रहने वाला वायु हूँ, वायव्य दिशा का लोकपाल हूँ, सभी का जीवन-दाता हूँ। तुम मेरे साथ विवाह करके देवाङ्गना बन जाओ। इस मर्त्य शरीर को त्याग कर दिव्य देह धारण करो। मैं तुम्हारी सभी इच्छाओं की पूर्ति करूँगा। यह यौवन सदा नहीं रहता, यौवन के साथ ही साथ सौंदर्य भी नष्ट हो जाता है। आयु चंचल है, फिर मनुष्यों की तो और भी अधिक। तुम मर्त्य-धर्म को त्यागकर अमर हो जाओ, मानवी स्त्री से देव-स्त्री बन जाओ।"

उन कन्याओं ने कहा—"वायुदेव! आप समस्त सुरों मे श्रेष्ठ हैं। आप सबके भीतर-बाहर विचरण करते है, सब के मन की बातें जानते हैं। आप हमारे अन्तःकरण के भाव को समझकर भी ऐसा प्रस्ताव क्यों कर रहे हैं? क्या आप हमारी परीक्षा ले रहे हैं?"

वायुदेव ने कहा—"देवियो! इसमे परीक्षा की कौन-सी बात है? आप सबका सौन्दर्य मर्त्यलोक के प्राणियों के उपभोग योग्य नहीं है। विवाह तुम्हें करना ही है, फिर मरणधर्मा मनुष्यों से न करके मुझ अमर देवता के साथ करो। मेरे साथ विवाह करते ही तुम मानवी भाव से मुक्त हो जाओगी दीर्घ आयु पाओगी, तुम्हारा यौवन अक्षय हो जायगा, तुम्हारी पलक न गिरेगी, शरीर की छाया न पडेगी, जरावस्था भी तुम्हारे पास न आयेगी, तुम्हारे शरीर में से मल-मूत्र, स्वेद, तथा अन्य मल न निकला करेंगे, अमृत तुम्हारा आहार होगा।"

कन्याओं ने कहा—"हे देवोत्तम! हम कन्यायें हैं, विवाह करने में स्वतन्त्र नहीं हैं। हमारे पिता हमें जिसके साथ भी

विवाह देंगे, उसी के साथ हम चली जायँगी। कन्या और गो का यही धर्म है—उसके रक्षक जिसके हाथ उसे सौंप दें, उसी के साथ चली जाय !"

वायु ने कहा—"तुम्हारा कथन सत्य है। किन्तु यह नियम उस कन्या के लिये है, जिसने रज दर्शन न किया हो। रजोदर्शन के अनन्तर कन्या दो वर्ष और प्रतीक्षा करे, फिर वह चाहे तो स्वय वर वरण कर सकती है। तुम सब तो प्राप्तवयस्का हो। ऐसी बहुत सी राजकुमारियों ने किया भी है।"

कन्याओं ने कहा—"किया होगा, हम आपकी बात का खण्डन नहीं करतीं। किन्तु हमारे मत मे यह निन्दनीय कार्य है। कन्या कितनी भी बड़ी हो जाय, वह पिता के ही अधीन ह। उसमे अपना इतना विवेक नहीं रहता कि वह स्वेच्छा से अपना पति चुन ले ! उसे तो अपने माता-पिता तथा संरक्षकों पर ही यह छोड़ देना चाहिये। तुम हमे यह अधर्म सिखा रहे हो ! हमारे सत्यवादी धर्मात्मा राजर्षि पिता का तुम तिरस्कार कर रहे हो। पिता ही हमारे देवता है, वे ही हमारे स्वामी हैं। वे जिसके हाथ में हमारा हाथ दे देंगे, वही हमारा पति होगा। तुम अपने देवत्व के अभिमान मे हमारा तिरस्कार मत करो, नहीं तो हम तुम्हारे मान का मर्दन कर सकती हैं, तुम्हारे गर्व को खर्व करने की हम मे सामर्थ्य है। हम राजर्षि की पुत्री हैं। हम तुम्हें शाप देकर भस्म कर सकती हैं। तुम्हे लोकपाल के पद से हटा सकती हैं और दूसरे देवता को तुम्हारे पद पर प्रतिष्ठित कर सकती हैं।"

यह सुनकर वायुदेव कुपित हुए। उन्होंने उन सब कन्याओं के शरीर में वायुरोग उत्पन्न कर दिया। शरीर मे वात, पित्त और कफ प्रधान हैं। इनमे भी पित्त और कफ तो पंगु ही हैं। वायु

ही इन्हें उड़ाकर भिन्न-भिन्न स्थानों मे ले जाती है। शरीर को वायु दूषित हो जाय, तो शरीरधारी प्राणी अत्यन्त पीड़ित होते हैं। उनको गठिया, लकवा, कुवड़ापन तथा अन्यान्य और भी बहुत से रोग हो जाते हैं। वायु के प्रकोप से वे सबकी सब कुबड़ी हो गईं। उनके अंग टूटकर बहुत छोटे हो गये और उनमें पीड़ा होने लगी।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! वायुदेव तो सर्वव्यापक है, उन्होंने कन्याओं से विवाह करने का प्रस्ताव कैसे किया ? वे तो उनके गुह्य अंगो मे निवास करते ही हैं, फिर विवाह का क्या अर्थ ?"

सूतजी बोले—"महाराज इसका उत्तर तो मैं अनेक बार दे चुका हूँ। सर्वव्यापक वायु तो सामान्य रूप से सर्वत्र रहता ही है एक वायु का अधिष्ठातृ देव है वह वायु लोक के स्वामी हैं। उनके भी हाथ, पैर, मुँह, नाक, कान, आदि इन्द्रियाँ हैं ! उनमें भी काम, क्रोध लोभ आदि के भाव हैं। उन्हीं देवता ने आकर कन्याओं से विवाह का प्रस्ताव किया। कन्यायें उनके प्रस्ताव को मान लेती, तो वे मानव शरीर को त्यागकर वायु लोक में, वायु के अनुरूप दिव्य रूप धारण करके, उनकी पत्नी बन जातीं। वे राजर्षि के वीर्य से स्वर्गीय अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न हुई थीं। उनके लिये ऐसा करना कठिन नहीं था। काम की पूर्ति न होने पर क्रोध होता ही है। जब वायु की इच्छा पूरी नहीं हुई, तब क्रोध करके उन्होंने उन सबको कुबड़ी बना दिया।

वे कन्यायें वायु के द्वारा विकृत हुई अपने घर आईं। वे लज्जा के कारण अपने अंगों को दिखाती नहीं थीं। वे पिता से डर रही थीं और वेदना के कारण रुदन कर रही थीं।

महाराज कुशनाभ ने जब देखा कि मेरी पुत्रियाँ तो वायुरोग

से पीड़ित होकर विरूपाङ्गिनी बन गई हैं, तब उन्होंने अपनी कन्याओं से पूछा—"बेटियो! तुम्हारी यह दुर्दशा किस कारण हुई? किसने तुम्हारा अपमान किया?"

लजाती हुई कन्याओं ने कहा—"पिताजी! प्राणिमात्र के भीतर बाहर विचरण करने वाले वायुदेव ने हमारी यह दुर्दशा कर दी है। वे हमसे अनुचित प्रस्ताव कर रहे थे। हमने कहा—"हम तो अपने पिता के अधीन हैं।" किन्तु वे हमें अधर्म सिखाने लगे। हमने न उन्हें शाप दिया, न कटु वचन ही कहे, केवल उनके अनुचित प्रस्ताव का विरोध मात्र ही किया। इसी पर कुपित होकर उन्होंने हमें कुबड़ी बना दिया, हमारे अंगों को विकृत बना दिया। इसमें हमारा कोई दोष नहीं।"

यह सुनकर राजर्षि कुशनाभ गम्भीर होकर सोचने लगे और पुनः बोले—"पुत्रियो! तुमने वायु को क्षमा करके अत्यन्त सुन्दर कार्य किया। यह तुमने मेरे कुल के अनुरूप ही व्यवहार किया क्षमा से बढ़कर कोई शस्त्र नहीं निर्बल में क्षमा नहीं होती। बलवानों का भूषण क्षमा ही है। समर्थ होने पर भी अपकारी का जो मन से भी अपकार न सोचे, वही क्षमावान है। वायुदेव सुरों मे श्रेष्ठ हैं, उनकी बातों पर ध्यान न दो, तुम्हारी क्षमा का फल मिलेगा।" यह कहकर राजा ने कन्याओं को विदा किया और स्वयं मंत्रियों के साथ कन्याओं के हित की बात सोचने लगे।"

महाराज ने अपने मंत्रियों से पूछा—"इन कन्याओं का विवाह किससे करें? कुबड़ी कन्याओं के साथ विवाह कौन करेगा? कोई ऐसा धर्मात्मा राजा बताओ, जिसके संसर्ग से इनका कुबड़ापन दूर हो जाय।"

यह सुनकर राजा के वृद्ध पुरोहित ने कहा—"राजन्! आप

महात्मा ब्रह्मदत्त के साथ इन कन्याओं का विवाह कर दें। वे इतने पवित्र हैं कि उनके स्पर्श-मात्र से यह सब पहिले की भाँति सुन्दरी हो जायँगी ?"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! ये ब्रह्मदत्त कौन हैं ? किस के पुत्र हैं ? किस देश के राजा हैं ? वे इतने पवित्र क्यों हुए ? इन सब बातों को मुझे बताइये।"

पुरोहित बोले—"राजन्! अभी बहुत दिनों की बात नहीं है। महर्षि चूली ने गङ्गातट पर वेद विहित तपस्या आरम्भ की। वे ऊर्ध्वरेता महर्षि बड़े ही शक्तिशाली और तेजस्वी थे। एकान्त में संयमपूर्वक रहकर वे घोर तपस्या करने लगे। जिन दिनों महर्षि चूली तपस्या कर रहे थे, उन्हीं दिनों उर्मिला गन्धर्वी की कन्या सोमदा उनके समीप आई। सोमदा अत्यन्त सुन्दरी थी, रूप और यौवन से सम्पन्न होने पर भी वह परम नम्र थी। मुनि को तपस्या में निरत देखकर वह अत्यन्त भक्ति भाव से मुनि की सेवा शुश्रूषा करने लगी। वह अपने शरीर के सम्पूर्ण सुख को छोड़कर रात्रि दिन मुनि की सेवा में ही संलग्न रहने लगी। मुनि उसकी श्रद्धा, भक्ति, नम्रता, सेवापरायणता, कार्य कुशलता तथा विशुद्धता के कारण उस पर प्रसन्न हुए उससे वर माँगने को कहा। मुनि बोले—"मैं तुम्हारे शील सदाचार और सेवा सत्कार से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। मैं तुम्हारा क्या उपकार करूँ ? तुम मुझसे अभीष्ट वर माँगो।"

मुनि को प्रसन्न देखकर बोलने में चतुर वह गन्धर्वी लजाती हुई अत्यन्त मधुरवाणी में बोली—"भगवन्! आप मुझसे सन्तुष्ट हैं, यही मेरे लिये क्या वर से कुछ कम है ? आपने मुझ दासी की सेवा स्वीकार की और मेरे ऊपर अनुकम्पा प्रदर्शित की, इसी से मैं तो कृतकृत्य हो चुकी।"

मुनि बोले—"नहीं, फिर भी तुम जो चाहो, मुझसे वरदान माँग लो।"

यह सुनकर नीचे सिर किये हुए लजाती हुई सोमदा बोली—"भगवन्! स्त्रियों की सबसे बलवती इच्छा पुत्र आदि के लिये होती है। किन्तु, मैं तो कुमारी कन्या हूँ, मेरा अभी कोई पति नहीं है। आप तो ऊर्ध्वरेता महर्षि हैं, परम तपस्वी हैं। ब्राह्मी विभूति से युक्त होने के कारण ब्रह्मस्वरूप ही हैं। आप मुझे ब्रह्म तपस्या से युक्त एक पुत्र प्रदान करें। वह उसी प्रकार ब्राह्म विधि से उत्पन्न हो, जिस प्रकार ब्रह्माजी से सनकादि महर्षि उत्पन्न हुए। बिना शरीर संगम हुए मुझे मानसिक पुत्र दें।"

यह सुनकर चूली महर्षि प्रसन्न हुए। वह गन्धर्वी किसी राजा के वीर्य से उत्पन्न हुई थी, अतः उसका मानसिक पुत्र उसके सम्बन्ध से क्षत्रिय हुआ। ब्राह्म उपाय से उत्पन्न वह सोमदा-सुत ब्रह्मदत्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पांचाल देश की राजधानी काम्पिल्य नगरी मे वह समृद्धिशाली राजा राज्य करता है। आप उसके साथ अपनी इन कन्याओं का विवाह कर दें। आपका और इन सभी कन्याओं का कल्याण होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वृद्ध पुरोहित की सम्मति मान कर महाराज कुशनाभ ने बड़े आदर-सत्कार से सोमदा-सुत ब्रह्मदत्त को बुलाया। राजा के आमन्त्रित करने पर राजा महोदय नगरी में पधारे। महाराज कुशनाभ ने शास्त्रीय विधि से उन सौ कन्याओं का विवाह राजा ब्रह्मदत्त के साथ कर दिया। राजर्षि ब्रह्मदत्त का स्पर्श पाते ही वे सब-की-सब पहिले की भाँति सुन्दरी हो गईं। उनका समस्त वात-रोग शांत हो गया। यह देखकर महाराज कुशनाभ तथा उनकी रानियाँ परम

प्रमुदित हुई। ब्रह्मदत्त अपनी पत्नियों के साथ काम्पिल्य पुरी में जाकर धर्मपूर्वक राज्य करने लगे। सोमदा अपनी बहुओं को देखकर अत्यन्त हर्षित हुई, वह बहुओं को आशार्वाद देकर स्वर्ग चली गई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज कुशनाभ के वे ही १०० कन्यायें थीं। जब वे सब की सब विवाहित होकर अपने घर चली गई, तब महल वाल बच्चो के बिना सूना-सूना दिखाई दिया। राजा ने पुत्र प्राप्ति के लिये बड़े-बड़े कर्म काडी विद्वान ब्राह्मणों को बुलाकर पुत्रेष्टि यज्ञ कराया, जिससे पितरों ने प्रसन्न होकर उन्हे पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद दिया। पितरों का आशीर्वाद फलीभूत हुआ। महाराज कुशनाभ के एक परम तेजस्वी धर्मात्मा यशस्वी पुत्र हुआ, जो ससार मे गाधि–नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाराज कुशनाभ के सबसे बडे भाई कुशाम्बु के भी कोई सन्तान नहीं थी। वे ही बडे होने से चक्रवर्ती पद के अधिकारी थे। अत: गाधि को उन्होंने ही गोद ले लिया। वे कुशाम्बु के ही पुत्र प्रसिद्ध हुए। महाराज गाधि के सत्यवती नाम की एक परम तपस्विनी कन्या हुई और विश्वामित्र नामक एक परम तेजस्वी पुत्र हुए, जो क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये, जिन्होंने ससार में एक अद्भुत कार्य कर दिखाया। सत्यवती के पौत्र ही भगवान् परशुराम हुए, जो विष्णु भगवान् के अवतार हैं, जिन्होंने ब्राह्मण होकर भी मारकाट और क्षत्रिय धर्म का आचरण किया।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी महाराज! विश्वामित्र इसी शरीर से क्षत्रिय से ब्राह्मण कैसे हुए और ऋषि पत्नी होने पर भी सत्यवती के पौत्र क्षत्रिय कर्म करने वाले क्यों हुए? इस विषय मे हमारे मन मे बडा कुतूहल है। कृपा

करके इस प्रसंग को आप हमें पहिले सुनावें, तब आगे की कथा कहें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात महाराज! यही तो मुझे अभीष्ट था पहिले तो मैं श्रीविश्वामित्रजी के ब्राह्मण होने का वृत्तान्त सुनाऊँगा और फिर परशुराम-चरित। आप इन सब परम पवित्र कथाओं को श्रद्धापूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

वायु बात सब सुनी क्षमा भूपति ने कीन्हीं।
ब्रह्मदत्त बुलवाइ तिनहिं सब कन्या दीन्हीं॥
पति परसत ही भईं सुन्दरी सब सुकुमारी।
लखि घर-वर अनुकूल भूप सुधि-देह विसारी॥
कन्या अपने घर गईं, पुत्र-हेतु हरि तैं विनय।
करी यज्ञ करि नृपति ने, भये गाधि तिनके तनय॥

सत्वती-पति महर्षि ऋचीक

(७३४)

तस्य सत्यवतीं कन्यामृचीकोऽयाचत द्विजः।
वरं विसदृशं मत्वा गाधिर्भार्गवमब्रवीत् ॥
एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
सहस्रं दीयतां शुल्कं कन्यायाः कुशिका वयम् ॥*

(श्री भाग० ९ स्क० १५ अ० ५-६ श्लो०)

छप्पय

ते कुशाम्ब के पुत्र कहाये गाधि भूमिपति ।
तिनकी कन्या सत्यवती जगमहँ सुन्दर अति ॥
आइ महर्षि ऋचीक याचना कन्या कीन्हीं ।
सुनि घबराये बात बदलि भूपति ने दीन्हीं ॥
बोले—देउ सहस्र हय, स्वच्छ शुभ्र जिनके बरन ।
वेगवान अति कान्तियुत, एक कृष्ण होवे करन ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन् ! महाराज गाधि से उनकी कन्या सत्यवती को ऋचीक ऋषि ने माँगा । राजा ने देखा, यह बूढ़ा ऋषि मेरी पुत्री के योग्य वर नहीं है । अतः वे बोले—"मुनिवर ! हम कुशिक-वंशी क्षत्रिय हैं । आप हमें कन्या के शुल्क में चन्द्रमा के समान कान्तिवान् सहस्र घोड़े दीजिये, जिनका एक कर्ण श्याम वर्ण का हो ।"

कभी-कभी मनुष्य बडे धर्म-संकट में पड जाता है। जो अपने पूज्य हैं, माननीय आदरणीय हैं, वे ही अपने समीप आकर कोई अनुपयुक्त अनुचित प्रस्ताव करे, तो न तो उनसे 'हाँ' कहते बनता है, न 'ना'। किसी युक्ति द्वारा उन्हे गोल मटोल उत्तर देना पडता है यदि वे ऐसे ही सट्ट पट्ट हुए, तब तो उस उत्तर के चक्कर में पडकर चुप हो जाते हैं और यदि सामर्थ्यवान् बुद्धिमान हुए, तो सब कुछ समझकर उस असभव बात को भी सभव करके अपने अद्भुत् सामर्थ्य का परिचय देते हैं। उनसे छल नहीं चलता, और उनके सामने सिर झुका ही देना पडता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मैं पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ कि महाराज कुशनाभ कान्यकुब्ज देश की महोदय नामक नगरी में राज्य करते थे। तदनतर महाराज गाधि वहाँ के राजा हुए। वे कोशाम्बी के भी भूपति थे। बहुत दिनो तक उन्हे कोई सन्तान नहीं हुई। अन्त मे महाराज राज्य छोडकर स्त्री-सहित वन मे रहने लगे। वे मुनियो से पुत्र प्राप्ति का उपाय पूछने लगे। भगवान् की इच्छा ! वन में ही उनके एक कन्या उत्पन्न हुई। वह इतनी सुन्दरी थी, कि भूतल पर ऐसी सुन्दरी कन्या का उत्पन्न होना कठिन है। देखने में वह देवकन्या सी प्रतीत होती थी। चिरकाल के अनन्तर सन्तान का मुख देखकर राजा परम सन्तुष्ट हुए। वे कन्या को लेकर राजधानी मे लौट आये और अत्यन्त ही प्रेम के साथ उसका लालन पालन करने लगे। एक तो बहुत दिनों बाद कन्या उत्पन्न हुई थी, दूसरे वह अत्यन्त ही सुन्दरी थी। अतः राजा उसे प्राणो से भी अधिक प्यार करने लगे। राजा ने उसका नाम रखा सत्यवती। वह शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की कला के समान बढने लगी। शनैः-शनैः वह बाल्यावस्था को पार कर गई। उसने युवावस्था मे पदार्पण

किया। राजा को उसके विवाह की चिन्ता हुई। राजा चाहते थे कि कोई सर्व गुण सम्पन्न सुन्दर वर मिले, तो मैं उसे घर जमाई रख लूँ, जिससे मुझे कन्या का वियोग दुःख न सहना पडे। राजा ऐसे सकल्प विकल्प कर ही रहे थे कि एक दिन द्वारपाल ने आकर सूचना दी—"प्रभो ! भृगुवशी महर्षि ऋचीक द्वार पर खडे है, वे महाराज से मिलना चाहते है। क्या आज्ञा है ?"

यह सुनते ही राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा है। वे शीघ्रता से उठकर द्वार पर गये और बडे आदर सत्कार पूर्वक मुनि को अपनी सभा मे ले आये। विधिवत् उनका पूजन करके कुशल पूछकर राजा ने महर्षि के आगमन का कारण जानना चाहा।

राजा की भक्ति से प्रसन्न होकर मुनि बोले—"राजन् ! आप धर्मात्मा हैं। मै आपसे कुछ याचना करने आया हूँ।"

"मुनि मुझसे कुछ माँगने आये हैं" यह सुनकर राजा के रोम-रोम खिल उठे। अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए वडे उत्साह के साथ बोले—"ब्रह्मन् ! मैं कृतार्थ हुआ ! मैं आज अपने को वडभागी समझता हूँ, जो भगवान् ऋचीक ने मुझे याचना के योग्य समझा। प्रभो ! मेरा है ही क्या ? यह राज पाट, सेना, कोष तथा सर्वस्व आपका है। मै परिवार-सहित आपका सेवक हूँ। आज्ञा कीजिये। कौन-सी वस्तु आपके अर्पण करके मैं कृतार्थ होऊँ ?"

मुनि बोले—"राजन् ! आप चन्द्रवशी हैं, महाराज कुश के वश मे उत्पन्न हुए हैं। ये शब्द आपके ही अनुरूप है। याचक आपके द्वार से कभी निराश नहीं लौटते। मैंने अपना दीर्घकालीन व्रत अभी समाप्त किया है। मेरी इच्छा विवाह करने की है।

सुना है, आपकी कन्या सत्यवती बड़ी ही सुन्दरी, सुशील और गुणवती है। मैं अपनी पत्नी बनाने के लिये उसी को आपसे माँगता हूँ। आप उसे मुझे दे दें।"

यह सुनकर तो महाराज किं कर्तव्यविमूढ़ बन गये। उनके ऊपर तो मानो वज्र गिर गया, उनकी सब आशाओं पर पानी फिर गया! "यह बूढ़ा ऋषि कैसा अनुचित प्रस्ताव कर रहा है? कहाँ मेरी परम सुकुमारी फूल-सी कन्या, कहाँ तपस्या से कठोर हुआ इनका वृद्ध शरीर! इन्हें तो कहने में भी संकोच नहीं हुआ। मैं ऐसे विसदृश वर को अपनी बेटी कैसे दे सकता हूँ? किन्तु इन तपोधन से ना करने का भी साहस मुझ में नहीं है। ये चाहें तो तपोबल से मेरे समस्त राज्य को नष्ट कर सकते हैं। इसलिये इनसे इस प्रकार की कोई बात कही जाय, जिसे ये न कर सकें, और ना भी न करना पड़े।"

यही सब सोचकर राजा बोले—"ब्रह्मन्! यह मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो आपने मुझसे मेरी कन्या की याचना की। आप जैसे ब्रह्मर्षि को पाकर मेरी पुत्री कृतार्थ हो जायगी। किन्तु भगवन्! इसमें एक प्रतिबन्ध है।"

मुनि ने सरलता के साथ पूछा—"वह क्या?"

राजा बोले—"भगवन्! यही कि हमारे यहाँ का एक विचित्र कुलाचार है। यद्यपि मैं उसे उचित्त नहीं समझता, फिर भी पूर्वज जैसी प्रथा चला गये हैं, उसका पालन तो हमें करना ही चाहिये। हमारे यहाँ वर-पक्ष से कुछ शुल्क लेकर तब कन्या का विवाह करते हैं। यदि आप मेरी कन्या का शुल्क दे सकें, तो मैं सहर्ष आपको अपनी कन्या दे दूँगा।"

मुनि ने पूछा "आपकी कन्या के उपलक्ष में मुझे क्या शुल्क देना होगा? वह मुझे बताइये।"

राजा ने सोचा—"श्यामकर्ण घोड़े पृथ्वी पर नहीं हैं। वरुण-लोक को छोड़कर स्वर्ग में भी नहीं हैं। अतः मुनि से ऐसे ही घोड़े माँगने चाहिये।" ऐसे विचारकर राजा बोले—"मुनिवर! हम कुशिकवंशी क्षत्रिय हैं। यदि आप हमें कहीं से श्यामकर्ण सहस्र घोड़े लाकर दें, तो हम अपनी कन्या का विवाह आपके साथ कर सकते हैं।"

मुनि ने पूछा—"श्यामकर्ण घोड़े कैसे होते हैं ?"

राजा ने कहा—"श्यामकर्ण घोड़ा का वर्ण चन्द्रमा के समान, शुभ्र होता है। उनका सम्पूर्ण शरीर तो दुग्ध के फेन के समान, चन्द्रमा के समान शुभ्र कान्तियुक्त होता है। केवल एक कान काले वर्ण का होता है। वे जल में, थल में – सर्वत्र समान रूप से चल सकते हैं। वरुणलोक के अतिरिक्त ऐसे घोड़े पृथ्वी पर किसी राजा के पास नहीं हैं।"

मुनि ने घास तो खोदी ही नहीं थी। इतना समय भगवान् की आराधना में ही विताया था। भगवान के भक्त देखने में ही भोले भाले लगते हैं, किन्तु वे सबके मनोगत भावों को समझ जाते हैं। मुनि समझ गये कि राजा मुझे किसी प्रकार टालना चाहते हैं, किन्तु वे टलने वाले प्राणी नहीं थे। बड़े साहस के साथ बोले—"राजन्! यह कौन सी बड़ी बात है! चतुर्दश भुवन में जो भी वस्तु विद्यमान हो, उसे ही मैं अपनी तपस्या के बल से ला सकता हूँ। मैं अभी वरुणलोक जाता हूँ और सहस्र श्यामकर्ण घोड़े लेकर पुनः आपके समीप आता हूँ।" इतना कह कर मुनि योगमार्ग के द्वारा तुरन्त वरुणलोक पहुँच गये।

परम तपस्वी भार्गव महर्षि ऋचीक को आते देखकर जलेश वरुण उठकर खड़े हो गये। मुनि की यथोचित पूजा करके लोक-

पाल वरुण ने महामुनि ऋचीक से पूछा—"ब्रह्मन्! आपका स्वागत है! मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपका पधारना किसी विशेष प्रयोजन से तो नहीं हुआ है।"

मुनि ने कहा—"जलेश! इस समय मैं एक विशेष प्रयोजन से ही आया हूँ। मेरी इच्छा विवाह करने की है। जिसे मैं अपनी पत्नी बनाना चाहता हूँ, उसके पिता ने एक बड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया है। वे मुझसे सहस्र श्यामकर्ण घोड़े माँगते हैं। ऐसे घोड़े आपको छोड़कर और किसी के पास हैं नहीं, अत मुझे ऐसे सहस्र घोड़े दे दीजिये।"

वरुण जी ने कहा—"ब्रह्मन्! आप सहस्र क्या, दश सहस्र घोड़े ले जाइये। आप तो वैसे ही जब भी जो चाहते अपना ही समझ कर ले जाते। फिर अब तो आप विवाह के लिये माँग रहे हैं। यदि किसी का विवाह कराने में कोई तन से मन से अथवा धन से सहायता करता है, तो उसे बड़े बड़े पुण्यलोकों की प्राप्ति होती है। जो कन्यादान करता है, उसके पुण्य का तो कहना ही क्या? आप जितने चाहें, उतने घोड़े ले जायँ।"

मुनि बोले—"वरुणदेव! आपका कल्याण हो, सदा आपकी वृद्धि होती रहे! मुझे अधिक घोड़ों की आवश्यकता नहीं, मुझे तो आप गिनकर सहस्र घोड़े दे दें।" यह सुनकर वरुण ने सुन्दर जाति के सहस्र श्यामकर्ण घोड़े मुनि को दे दिये। मुनि उन्हें लेकर गङ्गाजी के जल से निकल आये। गङ्गाजी में जिस स्थान पर वे घोड़े निकले थे, वह स्थान अश्व-तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मुनि ने वे घोड़े लाकर महाराज गाधि को दिये। महाराज उन घोड़ों को पाकर परम प्रमुदित हुए। उन्हें मुनि की अपार शक्ति और योग प्रभाव का पता चल गया। बड़े हर्ष के साथ राजा ने सत्यवती का विवाह ऋचीक ऋषि के साथ कर दिया। मुनि

इतनी सुन्दरी सुशीला सर्वगुण सम्पन्ना पत्नी पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। सत्यवती भी अपने पति को परमेश्वर के समान समझ कर श्रद्धा सहित उनकी सेवा करने लगी। ऐसे ब्रह्मवेत्ता अपार सामर्थ्यवान के साथ रहकर राजकुमारी अत्यन्त हर्षित हुई उस कृशोदरी सुन्दरी सुकुमारी राजकुमारी के साथ यथेष्ठ विहार करते हुए मुनि शची सहित दूसरे इन्द्र के समान प्रतीत होते थे। वे सत्यव्रती को लेकर वन उपवनों में भाँति भाँति की क्रीडायें करते।

कुछ काल के पश्चात् भगवान् भृगु अपने प्रपौत्र और उनकी वधू को देखने आये। बहू सहित प्रसन्नचित्त अपने प्रपौत्र को

देखकर महर्षि के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। ऋचीक अपनी पत्नी के सहित हाथ जोडकर खड़े हो गये और श्रद्धा सहित उनके चरणों मे प्रणाम किया। नई बहू का कुछ मुँह दिखाई देना चाहिये। इसलिये भृगु मुनि ने कहा—"बेटा! मैं तेरे शील स्वभाव तथा सरलता से अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ। इसलिए तू मुझसे जो चाहे, वर माँग ले।"

लज्जित भाव से सत्यवती ने कहा—"पिताजी! आप प्रसन्न हैं, मेरे लिए यही क्या कम वर है? फिर भी आपने जब वर माँगने की आज्ञा दी है, तब मैं वर माँगती हूँ। मेरे कोई भाई नहीं है। अत मेरे एक योग्य भाई हो जाय और आपके वश को चलाने वाला मेरे एक श्रेष्ठ पुत्र भी हो।"

यह सुनकर महर्षि भृगु अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—"बेटी! तेरे भी एक अत्यन्त तेजस्वी, धर्मात्मा पुत्र होगा, जो भगवान् का अशावतार ही होगा और एक भाई भी होगा, जो बड़ा तेजस्वी होगा।" यह कह कर उन्होंने अपने प्रपौत्र-ऋचीक से कहा—"वत्स! अब जब ऋतु काल आवे, तब तुम मंत्रों से अभिमंत्रित करके दो प्रकार की खीर बनाना—एक में क्षात्र तेज स्थापित करना, दूसरे में ब्रह्मतेज। दोनों को तुम अपना पत्नी और सास को देना। तुम्हारी सास पहिले गूलर वृक्ष का आलिङ्गन करे और तुम्हारी पत्नी पीपल वृक्ष का। तदनन्तर दोनों श्रद्धायुक्त अभिमंत्रित चरु को खायें, दोनों के ही योग्य पुत्र होंगे।" इतना कहकर भगवान् भृगु वहीं अन्तर्धान हो गये। यह समाचार गाधि की पत्नी ने सुना, तो वह परम हर्षित हुई। उनके कोई पुत्र भी नहीं था। उन्होंने सोचा—"मेरी पुत्री सर्व समर्थ महर्षि की पत्नी बन गई है, वह मंत्र बल से जो चाहे करा सकती है। अब तो हमारे अवश्य ही पुत्र होगा।" यह सोच

कर वह मन ही मन प्रसन्न होती हुई अपनी पुत्री की प्रशंसा करने लगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भृगु ऋषि के चले जाने पर सत्यवती भी ऋतुकाल की प्रतीक्षा करती हुई अपने पति की सेवा में संलग्न रहने लगी।"

छप्पय

सुनि मुनि नृप मन भाव समुझि जल लोक पधारे।
वरुण कर्यो आतिथ्य प्रेम तैं पाद पखारे॥
श्यामकरन हय सहस दिये लै नृप ढिंग आये।
मुनि प्रभाव तप निरखि गाधि अतिशय सकुचाये॥
सत्यवती कन्या दई, मुनि प्रसन्न अति है गये।
मिले प्रेम तैं वर वधू, अंगुलीय नग सम भये॥

माता और पुत्री के चरु में विपर्यय

[७३५]

तावत् सत्यवती मात्रा स्वचरुं याचिता सती।
श्रेष्ठं मत्वा तयायच्छन्मात्रे मातुरदत् स्वयम् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १५ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

सत्यवती सुत और बन्धु-हित इच्छा कीन्हीं।
क्षात्र ब्रह्म द्वै पृथक तेज धरि पायस दीन्हीं॥
सुता-भाग कूँ श्रेष्ठ समुझि माता ने खायो।
स्वयं मातु को भाग खाय सब वृत्त छिपायो॥
जानि योग तैं मुनि कह्यो, निज अनर्थ को भोगु फल।
तव सुत क्षत्रिय दण्डधर, करै बन्धु तव तप प्रबल॥

भाव सांकर्य वर्ण सांकर्य, वृत्ति सांकर्य तथा अन्य जितने भी सांकर्य होते हैं, वे लोभवश या अविश्वास वश होते हैं। जीव विश्वास कर ले, कि जो मेरी वस्तु है, वह मुझे अवश्य ही प्राप्त

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब महर्षि ऋचीक स्नान करने गये, तब सत्यवती की माता ने सत्यवती के चरू को श्रेष्ठ समझकर उससे माँग लिया। सत्यवती ने भी माता को अपना चरु दे दिया और माता के चरु को स्वयं खा लिया।"

होगी, तो सांकर्य न हो। सांकर्य न हो, तो सृष्टि न हो। सृष्टि न हो, तो बन्धन न हो, बन्धन न हो तो कोई मुक्ति के लिये प्रयत्न ही क्यों करे? जब प्रकृति में विकृति होती है, तभी संघर्ष होता है। जिस जीवन मे संघर्ष नहीं, विजय करने को भावना नहीं, उसमें उन्नति नहीं, गति नही, आगे बढने की शक्ति नहीं। अतः संघर्ष ही जीवन है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! प्रजापति भृगु के चले जाने के बाद कुछ दिनो के अनन्तर ऋचीक पत्नी सत्यवती ने अपने सर्व समर्थ पति से कहा—"प्राणनाथ! मैं तथा मेरी माता ऋतुस्नान कर चुकी हैं, आप अब अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये। मेरे ससुर के वर को सत्य कीजिये।"

महर्षि ऋचीक ने कहा—"प्रिये! मैं अवश्य ही तुम दोनों को पुत्र प्रदान करूँगा। देखो, मैं मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके ये दो प्रकार के चरु बनाता हूँ—एक तो तुम्हारी माता के लिये, और एक तुम्हारे लिये। तुम्हारी माता पहिले यह सामने जो गूलर का वृक्ष है, उसका आलिङ्गन करके तब चरु खाय और तुम अश्वत्थ वृक्ष का आलिंगन करके तब अभिमन्त्रित खीर खाना।"

हाथ जोडकर सत्यवती ने कहा—"अच्छी बात है भगवन्! हम ऐसा ही करेंगी।" यह सुनकर मुनि परम प्रसन्न हुए। उन्होंने शास्त्रीय विधि से वेदमन्त्रो द्वारा खीर तैयार की। सत्यवती के लिये जो चरु बनाया, उसमें तो ब्रह्मतेज स्थापित किया और उसकी माता के लिये जो पायस बनाया, उसमे क्षात्र तेज स्थापित किया। दोनों चरुओं को दो पृथक्-पृथक् पात्रों में बना कर बडी शुद्धता से मुनि ने अपनी पत्नी को दिया और बता दिया—"इस पात्र के चरु को तुम स्वयं खाना, इस दूसरे को अपनी माता को देना।" सत्यवती ने इसे स्वीकार किया। मुनि

दोनों चरुओं के पात्रों को देकर मध्याह्न स्नान सन्ध्या करने गङ्गाजी के किनारे चले गये।

मुनि के चले जाने पर सत्यवती ने कहा—"अम्मा! वे ये दो चरु पात्र दे गये हैं और आज्ञा कर गये हैं कि इसे तुम पीपल का आलिंगन करके खाना और इसे गूलर का आलिंगन करके अपनी माता को खिलाना। अतः चलें, हम सम्मुख ही इन दोनों वृक्षों का आलिंगन करें और उनके पधारने के पूर्व ही पायस प्रसाद पा लें।"

यह सुन कर माता ने सोचा—"मुनि ने पत्नी पर विशेष प्रेम होने के कारण तथा अपना पुत्र सर्वश्रेष्ठ गुणवाला हो, इस लोभ से सत्यवती का पायस श्रेष्ठ बनाया होगा और मेरा साधारण। यदि मैं सत्यवती के पायस को पा लूँ, तो मेरे सर्वश्रेष्ठ पुत्र हो।" यह सोच कर वह अपनी पुत्री से बोली—"बेटी! मुझे एक बात तुमसे कहनी है। तू जानती ही है, सभी अपनी सन्तानों को सर्वश्रेष्ठ गुणों वाली चाहते हैं। मेरा ऐसा विचार है कि तेरे पति ने तेरे चरु में श्रेष्ठ मन्त्र पढ़े होंगे और मेरे में साधारण। अतः मैं चाहती हूँ कि तेरे चरु को मैं खा लूँ और मेरे चरु को तू खा ले। मेरे गर्भ से जो पुत्र होगा, उसे तो सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करना पड़ेगा और तेरे उदर से जो होगा, उसे सम्पूर्ण जीवन पूजा पाठ मे ही बिताना होगा। राजा जितना ही धर्मात्मा गुणी होगा, उतना ही लोगों का हित कर सकेगा। अतः मैं और तू परस्पर चरु बदल लें। बोल, क्या कहती है।"

माता के सामने पुत्री कह ही क्या सकती थी? फिर विवाह और पुत्र की बातें करते हुए तो लड़कियाँ अपने माता-पिता तथा भाइयों से बहुत संकोच करती ही हैं। अतः उसने धीरे से कहा—"बात तो कुछ नहीं है। मेरे विचार से तो उन्होंने पक्षपात न

किया होगा। यदि बदलने की बात उन्हें ज्ञात हो जायगी, तो सम्भव है, वे क्रोध करें।"

माता ने कहा—"इसमें क्रोध करने की तो कोई बात नहीं। फिर उनसे कहने की ही क्या आवश्यकता है। यदि वे पूछें कि क्या तू ने अपना भाग खाया, तो तू कह देना कि हाँ, मैंने खा लिया। तेरा भाई श्रेष्ठ हो, यह तो तेरे लिये भी बड़े गौरव की बात है।"

सत्यवती ने कहा—"माताजी! जैसी आपकी इच्छा, मुझे तो इसमें कुछ भी आपत्ति नहीं। मेरा भाई सर्वश्रेष्ठ हो, यह तो मैं हृदय से चाहती ही हूँ। अच्छी बात है, तो मैं गूलर का आलिंगन करती हूँ, तुम पीपल का आलिंगन करो। मेरे चरु को तुम खा लो, तुम्हारे चरु को मैं खाती हूँ।" यह कहकर दोनों ने विपरीत वृक्षों का आलिंगन किया और विपरीत चरु का भक्षण किया। जब वे चरु को खा चुकीं, तब ऋचीक मुनि सन्ध्यावन्दन से निवृत्त होकर आश्रम पर आये। उन्होंने आते ही अपनी पत्नी से पूछा—"क्या तुमने चरु खाया?"

सत्यवती ने भयभीत होकर कहा—"हाँ, प्रभो! खा लिया।"

उसके मुख के भाव को देखकर मुनि समझ गये, दाल में कुछ काला है। उन्होंने ध्यान लगाकर जो देखा, तो सभी बातें जान लीं। मेरी पत्नी ने मातृ स्नेहवश चरु बदल लिया है, इससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे पत्नी पर क्रोध करते हुए बोले—"प्रिये! यह तुमने बहुत बड़ा अनर्थ कर डाला! तुमने तो सब गुड़ गोबर कर दिया! मैंने तुम्हारे चरु में ब्रह्ममन्त्र पढ़े थे और तुम्हारी माता के चरु में क्षात्र-मन्त्र! अब तुम्हारे गर्भ से ब्रह्म वेत्ता पुत्र न होकर बड़ा दुर्दण्ड और घोर प्रकृति का पुत्र होगा। इसके विपरीत

तुम्हारी माता के गर्भ से ब्रह्मवादियों में श्रेष्ठ, ब्राह्मण के शम-दम तप, आदि गुणों से युक्त, पुत्र होगा।"

यह सुनकर सत्यवती का मुख फक्क पड़ गया। वह बड़ी भयभीत हुई। उसने डरते-डरते काँपते हुए करों से अपने पति के पैर पकड़ कर प्रार्थना की—"प्रभो! ऐसा न हो। मेरा भाई ब्रह्मवेत्ता हो, इसमें तो मुझे कोई आपत्ति ही नहीं। किन्तु मेरा पुत्र दुर्दण्ड और घोर प्रकृति का हो, यह तो भृगुवंश के लिये बड़े कलङ्क की बात है। ब्राह्मण का पुत्र शान्त, दान्त, तितिक्षु और सहनशील होना चाहिये। मेरा इसमें कुछ अपराध नहीं है। मैंने यह काम स्वेच्छा से नहीं किया है। माता के संकोचवश विवश होकर मुझे ऐसा करना पड़ा।"

ऋचीक मुनि बोले—"प्रिये! विष को चाहे जानकर पीयो, या अनजान में, वह अपना प्रभाव अवश्य ही दिखावेगा। मेरे मन्त्र अमोघ हैं, मैंने उन्हें विधिवत् धारण किया है। वे विपरीत फल देने वाले या निष्फल तो कभी हो ही नहीं सकते।"

सत्यवती ने गिड़गिड़ाते हुए कहा—"स्वामिन्! यदि मेरा पुत्र दुर्दंड और क्रूर हुआ, तो यह मेरे लिये अत्यन्त लज्जा की बात होगी। सर्वत्र मेरी अपकीर्ति होगी। मेरा पुत्र ब्राह्मी शक्ति से ही सम्पन्न हो।"

अपनी पत्नी की विनीत प्रार्थना पर मुनि को दया आ गई। वे बोले—"अच्छी बात है। तुम्हारा पुत्र तो शान्त, दान्त, तपस्वी ऋषि ही होगा, किन्तु मन्त्रों का बल व्यर्थ तो जा नहीं सकता। उनका पुत्र पर प्रभाव न पड़के पौत्र पर पड़ेगा। तुम्हारा पौत्र क्षात्रधर्म से युक्त घोर प्रकृति का शूर-वीर एवं बली होगा।"

सत्यवती ने कहा—"अच्छी बात है! जब ऐसा होना ही है, तो पुत्र न होकर पौत्र का होना ही ठीक है।"

मुनि ने कहा—"अब तो भगवान् की आराधना में अपना समय बिताओ। तुम्हारा पुत्र ब्राह्मी शक्ति से सम्पन्न जगत् पूज्य महर्षि होगा।" इतना कहकर मुनि तपस्या में लग गये और सत्यवती भजन-पूजन करती हुई बालक उत्पन्न होने की प्रतीक्षा करती रही।

नियत समय पर सत्यवती के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम भगवान् ऋचीक ने जमदग्नि रखा। मुनि ने अपने पुत्र के जात-कर्म आदि समस्त वैदिक-कर्म, वैदिक-मन्त्रों द्वारा विधि पूर्वक कराये। बाल्यकाल से ही महामुनि जमदग्नि की तपस्या में रुचि थी। वे यमुना के किनारे जाकर घोर तपस्या करने लगे। समय आने पर महाराज रेणु की कन्या रेणुका के साथ भगवान् जमदग्नि का विवाह हुआ। उसमें भगवान् जमदग्नि ने वसुमान आदि कई पुत्र उत्पन्न किये। सबसे छोटे पुत्र राम हुए, जो परशु रखने के कारण परशुराम के नाम से संसार में विख्यात हुए, जो भगवान् के अंशावतार हैं और दश मुख्यावतारों में जिनकी गणना है। देवी सत्यवती अपने योग्य पुत्र जमदग्नि को देखकर स्वर्ग चली गईं। उनका शरीर ऐसा पवित्र था कि उससे सकल लोकों को पवित्र करने वाली कौशिकी नदी हो गई। उन्होंने परशुरामजी के हिंसा कार्य को नहीं देखा, जो उन्होंने हैहय वंश का तथा समस्त क्षत्रियवंश का अन्त करने में किया था।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हैहयवंशियों ने भगवान् परशुराम का ऐसा कौन सा अपराध किया था, जिससे उन्होंने समस्त क्षत्रियवंश का अन्त कर दिया?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं भगवान् के अवतार श्री परशुराम जी का ही चरित

सुनाता हूँ। आप सब एकाग्र चित्त होकर इस अवतार-चरित का श्रवण करें।"

छप्पय

पति चरननि महँ सत्यवती विनती बहु कीन्हीं।
होहि पुत्र नहिं पौत्र घोर मुनि आयसु दीन्हीं॥
भयो कछुक सन्तोप जने जमदग्नि तपोनिधि।
जात नाम सब करम करे मुनि हरषि यथाविधि॥
रेणु सुता श्री रेणुका, संग व्याह मुनि ने करयो।
परशुराम तिन तैं भये, भूमिभार जिनने हरयो॥

श्री परशुरामावतार

[७३६]

तस्यां वै भार्गवऋषेः सुता वसुमदादयः ।
यवीयाञ्जज्ञ एतेषां राम इत्यभिविश्रुतः ॥
यमाहुर्वासुदेवांशं हैहयानां कुलान्तकम् ।
त्रिःसप्तकृत्वो य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीम् ॥*
(श्री० भा० ६ स्क० १५ अ० १३-१४ श्लो०)

छप्पय

छोटे से बटु राम धनुष कंधापै धारें ।
शस्त्र शास्त्रमहँ निपुण निशानों तकि के मारें ॥
परशु प्राप्त जब भयो निरखि अतिशय हरषाये ।
तबहीं तें मुनि परशुराम जग माँहि कहाये ॥
क्षत्रिय अति निर्दय भये, अभिमानी अघ नित करहिं ।
वेद विप्र मानें नहीं, ऋषि मुनि हू तिन तें डरहिं ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महर्षि जमदग्नि से रेणुका से वसुमान् आदि पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें सबसे छोटे 'राम' इस नाम से संसार में विख्यात हुए, जिन्हें भगवान् वासुदेव का अंशावतार कहते हैं, जिन्होंने हैहयवंश का अन्त किया था और इक्कीस बार सम्पूर्ण पृथ्वी को क्षत्रिय शून्य कर दिया था।'

प्रेम या वैर एक जन्म मे सहसा नहीं हो जाता। इनका बीज पहिले से ही निहित रहता है। जब इनके प्रकाश होने का समय आता है, तब ये प्रकट होकर अपना चमत्कार दिखाते हैं। जो जितने ही बड़े होते हैं, उनका प्रेम या क्रोध भी उतना ही अधिक होता है। न कोई किसी को असमय में मार सकता है, न जिला ही सकता है। जब बहुतों के प्रारब्ध एक से हो जाते हैं, तब उनके नाश का एक सा ही कारण उपस्थित हो जाता है। जो नौका डूबने को होती है, उस पर चारों ओर से एकत्रित होकर ऐसे ही आदमी आकर बैठ जाते हैं, जिनका प्रारब्ध जल मे उसी समय उसी नौका से डूबने का होता है। मनुष्य ऊपरी घटनाओं को ही देखकर कारण खोजता है। उसे यह पता नहीं कि भीतर प्रकृति मे बहुत पहिले इसकी पृष्ठभूमिका तैयार हो जाती है।

सूतजी बोले—"मुनियो! आपने मुझसे भगवान् परशुराम के चरित के सम्बन्ध मे प्रश्न किया। आपने पूछा—"ब्राह्मण होकर भी परशुराम जी ने क्षत्रियो का वध क्यो किया? हैहयों ने उनका क्या अपराध किया था?" सो महाराज! निमित्त तो कुछ और ही हो गया। उन दिनो देवासुर-संग्राम मे जितने असुर मरे, सबके सब पृथ्वी पर आकर क्षत्रिय योनि में उत्पन्न हो गये, या यो कहिये कि उन दिनों के क्षत्रिय सभी के सभी विलासी, धन-लोलुप और विप्रद्रोही बन गये थे। मुनिवर के पिता तक को क्षत्रियों ने मार डाला था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ऋचीक मुनि के पिता को क्षत्रियों ने क्यो मार डाला? इस कथा को आप हमे सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! ये सब कथा-प्रसङ्ग इतने बड़े-बड़े हैं, कि मैं इन सब को विस्तार से सुनाने लगूँ, तो कथा कभी

समाप्त ही न हो। अतः मैं संक्षेप में इस वृत्तान्त को सुनाता हूँ। लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा के मानस-पुत्र भगवान् भृगु हुए। भगवान भृगु की पत्नी का नाम पौलोमी था। पहिले किसी दानव से उसके विवाह की बातचीत हुई थी, पीछे उसके पिता ने भृगुजी के साथ उसका विवाह कर दिया। वह दानव घात में रहता था। एक दिन पौलोमी को अकेली देखकर वह शूकर का रूप धरकर, अग्नि से उसका परिचय पाकर, हर ले गया। वह गर्भवती था। भय के कारण उसका गर्भ चू गया। उससे एक तेजस्वी पुत्र हुआ। उस पुत्र के देखते ही वह दानव वहां भस्म हो गया। इसलिये उसका नाम 'च्यवन' रखा। महर्षि च्यवन का विवाह सुकन्या के साथ हुआ, जिसने दीमक के ढेर में उनकी चमकती हुई आँखों को अनजान में फोड दिया था। सुकन्या के गर्भ से भगवान् च्यवन के दो पुत्र हुए—एक आत्मवान, दूसरे दधीच। महर्षि दधीच ने जीवित ही देवताओं के हित के लिये अपनी अस्थियाँ दे दीं। उनकी स्त्री गर्भवती थी। वह नख से उदर को फाडकर, पुत्र को एक पीपल के नीचे बैठाकर, पति के साथ सती हो गई। उनके पुत्र पिप्पलायन हुए। महर्षि दधीच के बड़े भाई आत्मवान् थे और भी बहुत से भृगुवंशी ब्राह्मण थे। वे यज्ञ में बहुत सी दक्षिणा पाते थे, अत बहुत अधिक धनी हो गये थे। उन दिनों हैहयवंशी क्षत्रियों का बहुत बोल बाला था। उनमें अधिकांश असुर ही पैदा हो गये थे। वे भोग विलास में सब धन व्यय करने लगे। क्षत्रियों के पास तो कभी धन रहता नहीं। उनकी दृष्टि सदा दूसरों के धन और दूसरों की स्त्रियों पर लगी रहती है। उन क्षत्रियों ने देखा—"इन ब्राह्मणों के पास बहुत धन है, इनका धन किसी प्रकार छीनना चाहिये।"

यह सोचकर उन्होंने ब्राह्मणों से धन माँगा। ब्राह्मणों ने धन नहीं दिया, उल्टे दस खरी खोटी सुनाई। एक तो गिलोय कडवी और तिस पर नीम चढी। अभिमानियों की बात न मानो तो उनका रोम-रोम जल उठता है। उन क्षत्रियों ने क्रोध मे आकर सब ब्राह्मणों को मार डाला। यही तक नहीं, उनके गर्भ के बच्चों तक को भी मार डाला। महर्षि आत्मवान् की पत्नी नहुष की लडकी नाहुषी थी। उसने किसी प्रकार अपने गर्भ को छिपा लिया। बहुत दिनो तक गर्भ को ऊरु में छिपाये रही। फिर कहीं एकान्त मे जाकर उस बच्चे को पैदा किया। ऊरु में छिपे रहने से और उस ऊरु को फाडकर पैदा होने से उसका नाम और्व पडा। ये ही और्व मुनि ऋचीक के नाम से ससार में प्रसिद्ध हुये।

ऋचीक मुनि जन्मते ही हैहय क्षत्रियों का नाश करने को उद्यत हो गये। तब स्वर्ग से उनके पितरों ने आकर उन्हें रोका-और कहा—"देखो, बेटा! ब्राह्मणो को क्रोध करना उचित नहीं।"

ऋचीक महर्षि ने कहा—"पितरो! आप सब समर्थ होने पर भी इस सहार को न रोक सके। इतने भृगुवशीय ब्राह्मण मारे गये और आपने उसका कुछ भी प्रतिकार नहीं किया। इन हैहय-वशीय क्षत्रियों में क्या सामर्थ्य थी, जो इतने निरपराध ब्राह्मणों को मार सकते? मैं आपको भी शाप दूँगा।"

पितरों ने कहा—"देखो भैया! हम सब तो जितक्रोध थे! हम में क्रोध और लाभ नहीं थे, हम निरन्तर तपस्या में निरत रहते थे। मृत्यु भी हमारे पास आने से डरती थी। हमारी इतनी अधिक आयु हो गई थी, कि हम उससे ऊब गये थे। किसी प्रकार मरकर स्वर्ग आना चाहते थे। वैसे तो हम स्वेच्छा से मर नहीं

सकते थे। इसीलिये हमने अपनी मृत्यु के लिये इन क्षत्रियों को निमित्त बना लिया। हम अपनी इच्छा से मरे हैं। इसलिये न तो तुम हमें ही शाप दो और न हैहयवंशीय क्षत्रियों का ही तुम संहार करो।"

यह सुनकर और्वऋचीक बोले—"पितरो! मैं क्या करूँ? मेरा क्रोध शान्त नहीं होता।"

पितरों ने कहा—"इसे समुद्र में फेंक दो अर्थात् जल में स्नान कर लो, क्रोध उतर जायगा। कहते हैं, और्व ऋषि का वही क्रोध बड़वानल बनकर समुद्र में रहता है। आठ महीने तो वह समुद्र के जल को पीता रहता है, और चार महीना उसे फूत्कार करके निकाल देता है, जो हिमालय पर जाकर हिम बन जाता है। ऋचीक महर्षि का क्रोध तो ऊपर से शान्त हो गया, किन्तु हैहय-वंशीय क्षत्रिय के अपराधों को वे भूले नहीं। उन्होंने गाधि पुत्री सत्यवती के साथ विवाह किया, जिसका वृत्तान्त हम पीछे कह ही चुके हैं। उस सत्यवती से महर्षि ऋचीक के सैकड़ों पुत्र हुए, जिनमें जमदग्नि और वत्स—ये दो श्रेष्ठ ऋषि हुए। चरु विपर्यय होने के कारण जमदग्नि को ही क्षत्रिय-संहारी दुर्दंड घोर प्रकृति का होना चाहिये था, किन्तु पत्नी की प्रार्थना पर पुत्र को ऐसा न करके पौत्र जमदग्नि को मुनि ने ऐसा कर दिया।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जब ऋचीक मुनि सब कुछ करने में समर्थ थे, तब उन्होंने अपने पौत्र को क्षत्रिय भाव भावित क्यों बनाया? अपनी तपस्या के प्रभाव से वे उनमें भी विशुद्ध ब्राह्मतेज स्थापित कर देते और अपनी सास के उदर में से ब्राह्मतेज निकाल लेते।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! हम लोग बाह्य कारणों को देखकर ऐसा कहने लगते हैं। यदि ऐसा न होता, तो वह

घटना न होती। किसी की मृत्यु नदी में डूब कर लिखी है, वह कभी स्नान करने नहीं जाता। सहसा किसी मित्र की प्रेरणा से चला गया और डूबकर मर गया, तो हम कहते हैं, 'यदि वह उसे न ले जाता तो उसकी कभी भी मृत्यु न होती।' यह कहना अज्ञान-मूलक है। वह उसे क्यों न ले जाता ? उसकी मृत्यु तो ऐसे होने ही वाली थी! वह तो केवल निमित्त बन गया। राजर्षि गाधि का वश तो ब्राह्मण होना ही था—"इसका वरदान तो महर्षि ऋचीक के पिता के भी पिता भगवान् च्यवन ने उनके बाबा कुशिक को पहिले ही दे रखा था।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! राजर्षि कुशिक को च्यवन ऋषि ने वरदान क्यों दिया ?"

सूतजी बोले—"भगवन्! ये सर्वज्ञ ऋषि जिन पर प्रसन्न हो जायँ, उसे जो चाहें, दे सकते हैं। बात यह थी कि एक बार महर्षि च्यवन कान्य-कुब्ज देश के महाराज कुशिक के यहाँ गये और बोले—"राजन्! मैं आपके महलों में रह कर चातुर्मास्य व्रत करूँगा। आप मेरी श्रद्धा से सेवा कीजिये।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मैं तो आपका दास हूँ। मेरा सर्वस्व आपका है। मेरा अहोभाग्य, जो आप मेरे यहाँ चातुर्मास्य व्रत करेंगे।"

राजा-रानी की अनुमति पाकर च्यवनमुनि उनके महलों में रहने लगे। वे राजा के धैर्य की परीक्षा लेने के लिए नित्य ही अद्भुत अद्भुत काम करते। कभी असमय में गरमागरम भोजन माँगते, कभी बने हुए भोजन को छोड कर चले जाते, कभी अच्छी वस्तु में भी दोष लगाते, कभी राजा-रानी को रथ में जोत कर उसमें बैठ जाते और उन्हें घोडों की भाँति कोड़ों से मारते। सारांश, वे ऐसे कार्य करते, जिससे राजा को क्रोध आ जाय। किन्तु

राजा बड़े धर्मात्मा थे, बड़े सहन-शील और धृतिवान थे। उन्होंने मुनि की न कभी अवहेलना की, न मन से ही कभी क्रोध किया।

राजा के ऐसे धैर्य को देखकर च्यवन मुनि प्रसन्न हो गये और राजा से बोले—"राजन्! मैं तुम्हारी सहनशीलता से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। आप मुझसे जो चाहें, वह माँग लें।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आपकी प्रसन्नता ही मेरे लिये महान् वर है। फिर भी मेरी इच्छा है कि मेरा वंश ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जायँ।"

मुनि ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अच्छी बात है राजन्! तुम्हारे वंश मे गाधि-नामक राजा होंगे। उनके पुत्र विश्वामित्र ब्राह्मण बन जायँगे और उनके आगे कौशिक वंश ब्राह्मण हो जायगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऋचीक मुनि अपने बाबा के वरदान को व्यर्थ कैसे बना सकते थे? अतः उन्होंने इसे दैवेच्छा ही समझा। हाँ, तो मैं ऋचीक-पत्नी सत्यवती का वृत्तान्त बता रहा था। चरु विपर्यय होने से सत्यवती की माता के गर्भ से तो विश्वामित्र जी का जन्म हुआ और सत्यवती के गर्भ से महर्षि जमदग्नि हुए। महर्षि जमदग्नि का विवाह महाराज प्रसेनजित् अथवा रेणु की कन्या रेणुका के साथ हुआ। रेणुका बड़ी पति–परायण थी। वह अपने पति की परमात्म-बुद्धि से सेवा किया करती थी।"

यद्यपि ऋचीक मुनि के वरदान से जमदग्नि विशुद्ध क्षत्रिय–स्वभाव के तो नहीं हुए, फिर भी मन्त्रों का प्रभाव कहाँ जाता! वे बड़े क्रोधी ब्राह्मण थे। धनुर्विद्या का उन्हें बाल्यकाल से ही व्यसन था। उनकी इच्छा के विरुद्ध यदि कुछ भी कार्य होता, तो उन्हें क्रोध आ जाता।

एक दिन की बात है, ये अपनी कुटी के समीप के वन में बाण-विद्या का अभ्यास कर रहे थे। उनकी पतिव्रता पत्नी रेणुका भी साथ ही थीं। वैशाख के दिन थे। मुनि धनुष पर बाण चढ़ा कर उसे दूर फेंकते और अपनी पत्नी को लाने को कहते। देवी रेणुका दौड़ कर जातीं और बाण उठा लातीं, तब तक मुनि दूसरा बाण छोड़ देते। एक तो ऊपर से सूर्य की उष्णता, दूसरे नीचे की रेत गरम थी। बार-बार जाने आने में रेणुका थक जातीं, वे किसी सघन वृक्ष की छाया में थोड़ा विश्राम करके तब बाणों को लाकर देतीं। बाण लाने में देर होते देखकर मुनि कुपित हुए। उन्होंने डाँटकर अपनी पत्नी से कहा—"तू मेरी क्रीड़ा में विघ्न करती है ? इतनी देर से बाण क्यों लाती है ?"

हाथ जोड़कर रेणुका ने कहा—"प्रभो ! ऊपर से सूर्य तप रहा है, नीचे भूमि जल रही है। मेरा सिर भी जलता है और पैर भी ! अब मैं क्या करूँ ?" इन दिनों सूर्य अत्यन्त उग्र हो रहे हैं। अब क्या था ? मुनि का क्रोध सूर्य के ऊपर चढ़ा। अब वे धनुष पर बाण चढ़ाकर सूर्य को गिराने को उद्यत हो गये। सूर्यनारायण डर गये, कि यह क्रोधी ब्राह्मण न जाने क्या कर डाले। ये तपस्वी उलटी खोपड़ी के होते हैं। ये न सीधे लिये जाते हैं, न टेढ़े। जब इन्हें जैसी सनक सवार हो जाय ! इसलिये इनसे झगड़ा मोल लेना उचित नहीं।" यह सोचकर सूर्यदेव वृद्ध ब्राह्मण का रूप रखकर आये और मुनि से बोले—"ब्रह्मन् ! यह आप क्या करना चाहते हैं ?"

मुनि बोले—"मैं इस सूर्य को गिरा दूँगा। यह मेरी क्रीड़ा में विघ्न करता है।"

वृद्ध ब्राह्मण ने कहा—"ब्रह्मन ! सूर्य का तो स्वभाव ही उष्ण है। किसी का सहज स्वभाव तो नहीं बदला जा सकता।"

मुनि बोले—"तब मैं क्या करूँ ? मेरी स्त्री बाण लेने जाती है, उसका सिर जलता है, पैर जलते हैं।"

वृद्ध ब्राह्मण बोले—"देखो, सब काम युक्ति से होते हैं। क्रोध करने से कोई लाभ नहीं। यह मैं छाता देता हूँ, इसे लगाकर चलने से धूप न लगेगी और ये दो जूते देता हूँ, इन्हें पैरों में पहनने से उनके पैर न जलेंगे। और देखो, मैं तुम्हारा पुत्र होकर उत्पन्न हूँगा।" फिर क्या था ? जो पुत्र बन गया, उससे क्या क्रोध ? मुनि प्रसन्न हो गये। रेणुका भी जूता छाता पाकर परम प्रमुदित हुई। तभी से संसार में जूते छाते का आविष्कार हुआ। सूर्य की कृपा से इन दोनों वस्तुओं का जगत में प्रचार हुआ।

भगवान् जमदग्नि के रेणुका के गर्भ से वसुमान, वसुषेण, वसु और विश्वावसु—ये पुत्र उत्पन्न हुए। सबसे छोटे भगवान् परशुराम थे, जो भगवान् विष्णु के अंशावतार हैं। जन्म से ही ये बड़े उग्र, असहनशील, क्रोधी, दुर्दण्ड तथा घोर प्रकृति के थे। इनके उत्पन्न होते ही स्वर्ग में देवता परम प्रसन्न हुए। देवता भी नीच क्षत्रियों के कुकर्मों से दुःखी थे। भगवान से उन्होंने प्रार्थना की थी, कि किसी प्रकार इन राजाओं से, जो वास्तव में असुर हैं, कब पृथ्वी खाली हो, कब भूमि का भार दूर हो। भगवान् परशुराम के अवतार से इन्हें सतोष हुआ।

भगवान् परशुराम बाल्यकाल से ही अस्त्र-शस्त्र विद्या के प्रेमी थे। उन्होंने अपने पिता से ही धनुर्वेद की विधिवत् शिक्षा प्राप्त की। वे शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे। जब वे रुरु नामक मृग का चर्म ओढ़कर अपनी काली-काली घुँघराली जटाओं को बखेरकर, धनुष-बाण धारण करके चलते, तो साक्षात् वीर-रस दिखाई देते। फरसा धारण करने से ही सब उन्हें

परशुराम कहने लगे। ये अपने पिता के अनन्य भक्त थे। पितृभक्ति का ऐसा उदाहरण संसार मे दूसरा कोई नहीं मिलता। पिता की आज्ञा से इन्होंने अपनी माता तथा भाइयों का भी वध कर डाला।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! परशुरामजी ने अपनी माता तथा भाइयो का वध क्यों किया? उनके पिता ने ऐसी कठोर आज्ञा क्यों दी? कृपा करके इस कथा को आप हमें अवश्य सुनावें।'

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! प्राचीन काल में

जीवन के मुख्य ध्येय सदाचार ही समझे जाते थे। स्त्रियों की पवित्रता पर विशेष ध्यान रखा जाता था। समाज की सब से अमूल्य सम्पत्ति स्त्रियाँ ही हैं। जिस समाज की स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं, वह पतित हो जाता है। स्त्रियों के दुष्टा हो जाने से सृष्टि में वर्णसंकरता छा जाती है। वर्णसकर प्रायः नास्तिक ही होते हैं। शुद्ध रज वीर्य मे ही आस्तिक भाव टिक सकते हैं। व्यभिचार ही उच्छृङ्खलता की ओर ले जाता है। जिस जीवन में उच्छृङ्खलता है, उसमें सत्य टिक नहीं सकता। पहले देखने या सुनने से मन दूषित होता है, मन के दूषित होने से भाव दूषित होते हैं, भाव दोष से इन्द्रिय संसर्ग की इच्छा होती है। अवैध अग सग होता है, जिससे अवैध सतति होती है। अवैध सतति की प्रवृत्ति सदा व्यभिचार और कदाचार मे ही होती है। इसीलिये सत्ययुग आदि युगों मे मानसिक पाप भी बहुत बडे पाप समझे जाते थे। मानसिक पापों के भी बडे कठिन प्रायश्चित्त होते थे। पूर्वकाल मे मानसिक व्यभिचार शारीरिक व्यभिचार से कम नहीं समझा जाता था। रेणुका देवी से यही अपराध बन गया। इस प्रसंग को मैं आप सब को सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर इसे श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

तिनके वध हित विष्णु विप्र बनि वसुधा तलपै।
प्रकटे लैके परशु विजय कीन्हीं शत्रु निपै॥
करचो न मन महँ मोह जनक-हित माता मारी।
आज्ञा अनुचित-उचित पिता की सिर पै धारी॥
पितु रुख लखि कारज करहिँ, डरहिँ न रूठहिँ पितु कहीं।
पितृ भक्ति को दिव्य अस. उदाहरण जग महँ नहीं॥

—:*:—

श्री परशुरामजी की पितृ-भक्ति

[७३७]

व्यभिचारं मुनिर्ज्ञात्वा पत्न्याः प्रकुपितोऽब्रवीत् ।
घ्नतैनां पुत्रकाः पापामित्युक्तास्ते न चक्रिरे ॥
रामः सञ्चोदितः पित्रा भ्रातृन्मात्रा सहावधीत् ।
प्रभावज्ञो मुनेः सम्यक् समाधेस्तपसश्च सः ॥ॐ
(श्री भा० ९ स्क० १६ अ० ५-६ श्लोक)

छप्पय

पूछे शौनक—सूत ! राम की कथा सुनाओ।'
सूत कहें—'सब कहहुँ, कथा महँ चित्त लगाओ ॥
एक दिवस जल भरन रेनुका गई, लखे तहँ।
सुर बनितनि सग करहिँ चित्ररथ खेल नदी महँ ॥
रति-क्रीडा नृप-रूप लखि भयो काम-युत तिय-हृदय।
बीत्यो मुनि को तब तलक, अग्निहोत्र-सन्ध्या-समय ॥

ॐश्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महर्षि जमदग्नि अपनी पत्नी के मानसिक व्यभिचार को जानकर उस पर अत्यन्त कुपित होकर अपने पुत्रो से बोले—'पुत्रो ! तुम अपनी इस पापिनी माता को मार डालो।' किन्तु उन पुत्रो ने ऐसा नही किया। जब मुनि ने परशुरामजी से कहा, उन्होने माता के सहित भाइयो को भी मार डाला, क्योंकि वे अपने पिता के प्रभाव से पूर्णतया परिचित थे।"

मानव चित्त कमल पत्र पर पडे पानी के सदृश चचल हे। तनिक वायु लगते ही वह डगमगाने लगता हे। इस सम्बन्ध में एक पौराणिक गाथा हे। श्री कृष्ण भगवान् के १६१०८ रानियाँ थीं, उनमे ८ पटरानियाँ थीं। उन आठो मे एक जाम्नवती थी, जिसका पुत्र शाम्न था। भगवान् के सभी पुत्रो मे वह सबसे सुन्दर था। उसके सौन्दर्य के सम्नन्ध मे यहाँ तक कहा जाता ह, कि उसकी जो और १६ हजार माताएँ था, वे उसके रूप को देखकर मोहित हो जातीं। नारदजी ने जाकर भगवान से यह बात कही। भगवान् ने उस पर विश्वास नहीं किया। तब नारद जी तो खिलवाडी ठहरे। शाम्ब को उन्होंने स्वय सजाया और उसके हाथों से उन १६ हजार रानिया को भोजन परसवाया। उस समय हँसते हुए चचल दृष्टि वाले शाम्ब को देखकर सबके चित्त चचल हो उठे, सबका हृदय सरसता म पग गया। भगवान् ने सबके भाव को समझा। शाम्ब को शाप दिया— 'तू कोढी हो जा। उन १६ हजार रानिया को शाप दिया, तुम्हें दस्यु चोर बल पूर्वक उठा ले जायँ।"

इस गाथा का एकमात्र सार यही हे कि मनुष्य को अपने मन पर विश्वास न करना चाहिये। सदा सावधानी से सदाचार पर दृष्टि रखनी चाहिये। मनुष्य निर्लज्ज और साथ ही प्राय रूखे स्वभाव का होता हे। स्त्री हृदय सकोची, स्निग्ध और सरस होता हे। वह सौन्दर्य रूपी उष्णता को पाकर अति शीघ्र पिघल जाता ह। जिन जातियो मे खाना पीना और इन्द्रियों का तृप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य समझा जाता हे, जहाँ बाल केसे आकर्षक बनें, अमुक इन्द्रिय-सुख कैसे सरलता से भोगा जाय, इन्हीं के आविष्कार मे सम्पूर्ण बुद्धि व्यय की जाती है, उनके लिये तो सदाचार-दुराचार कोई वस्तु नहीं हे। किन्तु जिनका लक्ष्य सदा

भौतिकवाद से ऊँचा रहा है, जो प्रकृति से परे पुरुष को पाना ही पुरुषार्थ समझते हैं, उनकी दृष्टि मे ये ससारी सुख सर्वदा हेय और परिणाम मे दुःखद हैं। प्राकृत मे बधन है और प्राकृत मे मुक्ति। आर्यधर्म मे सदा असत् से सत् की ओर तथा अधकार से से परम ज्योति की ओर ले जाने का आदेश उपदेश दिया जाता है। जो भाव से प्राकृत हैं, उन्हें दिव्य बना लो, तुम ससार बन्धन से मुक्त हो जाओगे। इसलिये इन प्राकृत सबन्धो को हमारे यहाँ परम हेय माना है। माता को तुम हाड-मास की बनी एक पिता के उपभोग की वस्तु न समझो किन्तु उनमे देवता की ईश्वर-बुद्धि करो। पिता ही परमेश्वर हैं, आचार्य ही ईश्वर हैं, पति ही परमात्मा, सत ही भगवान् हैं, यह चराचर विश्व ही भगवान् का रूप है, यह जगत् सियाराममय है—इन भावो मे इन्द्रिय-भोगो का स्थान नहीं। इसीलिये हमारे यहाँ समस्त साधन एतदर्थ ही हैं। चित्त की वृत्तियाँ बिखरने न पावें, चित्त चचल होकर इस-उस भोग मे ही न पडा रह जाय, वह एक खूँटे से बँधकर अपनी वृत्तियो का निरोध कर सके।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे भगवान् परशुरामजी की पितृ भक्ति के सम्बन्ध मे प्रश्न किया था। उसे मैं आपको सुनाता हूँ।

भगवान् जमदग्नि यमुनाजी के किनारे आम्रवन के समीप निवास करते थे। रेणुका सदा उनकी सेवा मे तत्पर रहतीं। उनके पुत्र भी उनके समीप वेदाध्ययन करते। एक दिन सायकाल गृह का सब कार्य करके भगवती रेणुका यमुनाजी से जल भरने गईं। आश्रम से यमुनाजी कुछ दूर थीं। वह स्थान बडा ही रमणीक था। दूर-दूर से राजा और राजकुमार वन-विहार और क्रीड़ा

करने यहाँ आया करते थे। यमुनाजी में पृथक् पृथक् कई ह्रद हो गये थे, जिनमें भाँति-भाँति के कमल खिल रहे थे। नाना प्रकार के सुगंधित पुष्पों वाले पादप अपने पुष्पों की पुनीत सुगंधि से उस प्रदेश को सुवासित कर रहे थे। उसी समय गन्धर्वों के राजा चित्ररथ अपनी बहुत सी सुन्दरी गन्धर्वियों के सहित वहाँ क्रीडा करने आया। गन्धर्व एक तो वैसे ही अत्यन्त सुन्दर होते हैं, फिर उनमें चित्ररथ तो सौंदर्य की साक्षात् मूर्त्ति ही था। उसकी स्त्रियाँ उसे अत्यन्त ही प्यार करतीं। बहुत सी उसके अंगों से सटी हुई थीं, बहुत सी हँस रही थीं, बहुत सी उसके ऊपर जल छिड़क रही थीं। वह स्वयं खिलखिलाकर हँस रहा था और विनोद की विविध चेष्टायें करके मनको हँसा रहा था। देवी रेणुका नदी तट पर बैठी-बैठी गन्धर्वराज की काम क्रीडाओं को बड़ी स्पृहा से देखती रहीं। वे चित्ररथ के अनवद्य सौन्दर्य को देखकर इस बात को भूल ही गईं कि वे एक कठोर नियम पालन करने वाले तपस्वी क्रोधी मुनि की पत्नी हैं। उनके मन में चित्ररथ की रानियों के प्रति ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हुआ। वे सोचने लगीं—"देखो, ये कितनी भाग्य शालिनी हैं। इन्हें अपने पति का कैसा प्रेम प्राप्त है? ये कितनी प्रसन्न चित्त हैं? मेरे भी पति ऐसे होते तो!" इस भाव के आते ही उनका ब्रह्म तेज नष्ट हो गया। पर पुरुष के प्रति प्रेम पैदा होते ही उनका भाव दूषित हो गया। मुनि सायं कालीन सन्ध्या हवन करने के लिये बैठे थे। सन्ध्या का समय निकल रहा था। नियम के बन्धन में बँधे मुनियों को सन्ध्या के समय का बिना उपासना के निकल जाना अत्यन्त ही कष्टकर कार्य है। उनकी पल-पल पर व्यग्रता बढ़ रही थी। वे एकटक दृष्टि से तीर की ओर निहार रहे थे। देवी रेणुका आत्म विस्मृत सी बनी उस विनोदप्रिय राजा की क्रीडाओं को देख रही थी।

भगवान् भुवन भास्कर ने भी जब देखा कि मुनि मुझे अब अर्घ्य न देंगे, इनकी प्रतीक्षा करना व्यर्थ है, इस समय तो ये क्रोध मे भरे हुए हैं, क्रोधी पुरुष के सामने से हट जाना ही श्रेयस्कर है, तब वे सन्ध्या के अरुण अंचल मे आनन छिपाकर सो गये। रात्रि समझकर गन्धर्व भी अपनी प्रेयसियों को साथ लिये हुए विमान पर चढ़कर चला गया।

अब रेणुका देवी को स्मरण हुआ— "हाय मैं यहाँ कहाँ बैठी हूँ ! सन्ध्या का समय तो निकल गया ! मेरे पति मेरी प्रतीक्षा मे बैठे होंगे। आज उनकी सायं सन्ध्या बिना सन्ध्या अग्निहोत्र के ही बीत गई होगी। निश्चय ही वे मुझे भस्म कर देंगे। वे बड़े क्रुद्ध हो रहे होंगे। मैंने यह कैसा अनजान में पाप कर डाला ? आज कुशल नहीं, कल्याण नहीं; भगवन् ! मेरी रक्षा करो।" ऐसा विचारती हुई अत्यन्त डरी हुई मुनि पत्नी घड़े को भरकर शनैः शनैः अँधेरे मे आश्रम की ओर चली। भय के कारण उसके पैर आगे नहीं पड रहे थे। वह थर-थर काँप रही थी, मन ही मन अनेकों देवीदेवताओं की मनोती मना रही थी।

इधर जब मुनि ने देखा; सन्ध्या समय निकल गया, रेणुका अभी तक नहीं आई, तब उन्होंने समाधि लगाकर योग-बल से अपनी पत्नी के मानसिक व्यभिचार को जान लिया। अब तो मानो अग्नि मे घी की आहुति पड़ गई। वैसे निरपराध ही उसे देर हो जाती और सन्ध्या समय निकल जाती, तो इसी पर मुनि अत्यन्त कुपित होते। किन्तु यह तो मानसिक व्यभिचार हो गया। पत्नी के इस अपराध से मुनि आपे से बाहर हो गये। इतने में ही चुपके से आकर रेणुका ने यमुना जल का घड़ा रख दिया।

पैरों की आहट सुनकर मुनि ने क्रोध मे भरकर कहा—"कौन है ?"

यह सुनते ही रेणुका के पैरों तल से तो मानो मिट्टी सरक गई, काटो तो शरीर मे रक्त नहीं। फिर भी साहस करके कॉपती हुई वे मुनि के सन्मुख आई और हाथ जोड़कर दीनवाणी मे बोलीं—"कि अपराध को क्षमा करें।"

मुनि के समीप ही अग्निहोत्र करते उनके चारों बड़े पुत्र बैठे थे। उनकी ओर मुँह करके क्रोध पूर्वक मुनि बोले—"पुत्रो! तुम इस अपनी पापिनी माता को अभी मेरी आज्ञा से मार डालो।"

मुनि-पुत्रों ने सोचा—"पिताजी क्रोध में भर कर ऐसी बातें कह रहे हैं। कुछ देर में क्रोध शान्त हो जायगा, तो क्षमा धारण कर लेंगे।" यही सोच कर वे चुप रहे।

पुत्रो को चुप देखकर उन्हें डॉटते हुए मुनि बोले—"क्यो रे! तुम मेरी आज्ञा का पालन न करोगे? मैं कह रहा हूँ, तुम इस अपनी माता को अभी मार डालो।"

"माता का पद तो पिता से भी श्रेष्ठ है। पुत्र माता को कैसे मार सकता है।" यही सब सोच कर पुत्रों ने मातृ वध करना स्वीकार नहीं किया। उस पर मुनि को और भी अधिक क्रोध आ गया। क्रोधी पुरुष को कोई मारने से रोके, तो वह रोकने वाले पर भी प्रहार कर बैठता है। इसी प्रकार अब तक तो अकेली रेणुका पर ही क्रोध था, अब उन्हें इन अपने पुत्रों पर भी क्रोध आ गया। सयोग की बात, उसी समय परशुरामजी जगल से समिधा का गठ्ठर लिये, कन्धे पर फरसा रखे, वहाँ आ गये। अपने आज्ञाकारी पितृ भक्त छोटे पुत्र को देखकर मुनि ने कहा—"बेटा! तुम अभी अपनी इस दुष्टा माता को मार डालो मेरी आज्ञा न मानने वाले इन अपने भाइयों को भी मार दो

परशुरामजी तो अपने पूज्य पिता के प्रभाव से पूर्णतया परिचित थे। उन्होने सोचा—"पिता की आज्ञा का पालन न करूँगा, तो मैं भी पिता की क्रोधाग्नि में भस्म हो जाऊँगा और पिता को प्रसन्न कर लूँगा, तो अपनी माता तथा भाइयों की भी रक्षा कर लूँगा।" यही सब सोचकर तुरन्त ही उन्होंने फरसा लेकर माता अपने भाइयों का वध कर दिया। अब क्या था, मुनि प्रसन्न हो गये। क्रोध तभी तक होता हे, जब तक फलोदय नहीं होता। जो हम चाहते हैं, जिसके लिये क्रोध करते हैं, वह हमें प्राप्त हो जाय, तो क्रोध कपूर की भाँति उड जाता हे।

मुनि ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"पुत्र! तुम दीर्घायु हो, बिना इच्छा के तुम्हारी मृत्यु न हो और वैष्णव तेज को छोड कर तुम किसी के सम्मुख पराजित न हो। मैं तुम पर अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ। तुम और भी जो मुझसे चाहो, वरदान माँग लो। तुम जो माँगोगे, वही मैं आज तुम्हे दे दूँगा।"

पिता को प्रसन्न देखकर हाथ जोडे हुए परशुरामजी बोले—"पिताजी! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मैं आपसे यहीं वरदान चाहता हूँ, कि मेरी माता भाइयों सहित जीवित हो जायँ और उन्हे यह बात ज्ञात भी न हो, कि मैंने उन सबका वध किया हे।"

इतना सुनते ही मुनि हँस पडे और प्रसन्न होकर बोले—"अच्छी बात हे, ऐसा ही होगा। इन सबके सिरों को धड से चिपका दो।"

परशुरामजी ने ऐसा ही किया। तुरन्त माता के सहित उनके सभी भाई जीवित हो उठे। उन्हें ऐसा लगा, मानों वे सोने के पश्चात् अभी उठे हों। वे सब आँखें मलते हुए इधर-उधर देखने लगे। परशुरामजी ने अपनी माता तथा भाइयों

के पैर छुए। वे सबके सब निद्रा भङ्ग होने के पीछे उठे हुए व्यक्तियों के समान अनायास ही कुशल पूर्वक उठकर परशुरामजी से कहने लगे—"हमें बैठे-बैठे आज निद्रा आ गई।"

परशुरामजी तो सब समझते ही थे कि उन्हें कैसी निद्रा आई थी। उन्होंने उनसे कुछ कहा नहीं। परशुराम भाइयों और माता को जीवित देखकर अत्यन्त ही आनन्दित हुए।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मातृ वध तो सबसे बड़ा पाप है। माता का गौरव तो पिता से भी अधिक है। फिर भगवान के अवतार परशुरामजी ने मातृ वध जैसा अपराध क्यों किया ?"

यह सुनकर हँसते हुए सूत बोले—"अजी महाराज! आप एक माता के ही वध की बात कहते हैं। माता तथा भाइयों का वध तो उन्होंने पिता के तप का प्रभाव जानकर किया था, किन्तु इन्होंने तो असंख्यों पुरुषों की हत्यायें कीं। स्त्रियों के गर्भ से बच्चे निकालकर उन्हें मार डाला। यह अवतार इसी-लिये हुआ ही था। सामर्थ्यवान को दोष नहीं लगता। माली चाहे जिस पेड़ की डाल काट दे, जिसे चाहे उखाड़ कर फेंक दे, क्योंकि उसे पता है कि इसे काटने से वाटिका का अमुक लाभ होगा, इसे उखाड़ देने से वाटिका की शोभा बढ़ेगी। दूसरा अनजान ऐसा करे, तो यह अन्याय होगा। मारना-जिलाना सब भगवान् की क्रीड़ा है। सहस्रार्जुन जैसे—संसार के अद्वितीय वीर की भी हजार भुजायें इन्होंने ही काटीं। उसे भी इन्होंने ही परशु के घाट उतार दिया, जिसने रावण को भी कैद कर लिया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह सहस्रार्जुन कौन था ? इसका क्या बल-वीर्य था ? इसे परशुरामजी ने क्यों मारा ? कृपा करके इस चरित को हमें सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! मैं इस कथा को सक्षेप में आपको सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर इसे सुनें।"

छप्पय

आई अति भयभीत रेनुका कोपे तब मुनि।
कही सुतनि तैं मातु हनो, चुप रहें पुत्र सुनि॥
सोचे मुनिवर अधिक धृष्टता पुत्रनि कीन्हीं।
आये तबई राम सबनि बध आज्ञा दीन्हीं॥
पितु-प्रभाव-तप राम लखि मातु भ्रात मारे तुरत।
पितु प्रसन्नता वर लह्यो, सब जीवित ह्वैके फिरत॥

हैहयराज सहस्रार्जुन

(७३८)

हैहयानामधिपतिरर्जुनः क्षत्रियर्षभः ।
दत्तं नरायणस्यांशमाराध्य परिकर्मभिः ॥
बाहून् दशशतं लेभे दुर्धर्षत्वमरातिषु ।
अव्याहतेन्द्रियौजः श्रीतेजोवीर्ययशोबलम् ॥*
(श्री ६ स्क० १५ अ० १७-१८ श्लो०)

छप्पय

सहसबाहु बलवान भूप हैहयकुल-भूषन ।
दत्त प्रभुहिँ आराधि, प्राप्त कीन्हें जिन बहु गुन ॥
तेज, ओज, पुरुषार्थ, सहसभुज, अव्याहत गति ।
यश, अजेयता, आदि लहे गुन, भयो मत्त अति ॥
रावन त्रिभुवन विजय करि, घूमत बल-मद-मह मर्यो ।
पशु-समान तिहि पकरिकैँ, दलन दर्प ताको कर्यो ॥

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! हैहय-वंशी क्षत्रियों का अधिपति सहस्रार्जुन क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ था। उसने श्रीमन्नारायण के अंशावतार भगवान् दत्तात्रेय की अनेक प्रकार से आराधना करके एक सहस्र भुजाएँ, शत्रुओं से अजेयता, अव्याहत इन्द्रिय-बल, सम्पत्ति, तेज पुरुषार्थ, यश, शारीरिक बल, आदि गुण प्राप्त किये थे।"

एक कहावत है, "मल्लनि कूँ मल्ल घनेरे। घर नाहीं, तो बाहर बहुतेरे।" अर्थात संसार में योद्धाओं से लड़ने वाले उनसे भी श्रेष्ठ बहुत से योद्धा पड़े हैं। यह दूसरी बात है, कि वे घर-नगर में न हों, किन्तु खोजने पर संसार में बहुत मिल जायेंगे। गंगा ने सोचा, मैं श्रेष्ठ हूँ, किन्तु शिवजी ने उन्हें अपनी जटाओं में धारण किया, तो शिवजी श्रेष्ठ हुए। शिवजी को भी कैलाश धारण करता है, वह श्रेष्ठ हुआ। कैलाश को रावण ने लीला से उठा लिया, वह श्रेष्ठ हुआ। रावण को वालि ने काँख में दबा लिया, तो वह श्रेष्ठ हुआ। वालि को भी भगवान् ने एक बाण से मार दिया। इस प्रकार देखते हैं, संसार में भगवान् के अतिरिक्त कोई यह नहीं कह सकता कि हम सर्वश्रेष्ठ हैं। अवतारों में भी बड़े अवतार के सम्मुख छोटे अवतार हतप्रभ हो जाते हैं। एक अवतार का कार्य-काल समाप्त होते ही दूसरा उसे पराजित कर देता है। अवतार को अवतार क्या पराजित करेगा। यह सब भगवान् का विनोद है, क्रीडा है।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे हैहय-वंशी महाराज सहस्रार्जुन का चरित पूछा था। उसे मैं आपको सुनाता हूँ। महाराज यदु के प्रपौत्र 'हैहय' नाम के राजा हुए। उन्हीं हैहय के वंश में कृतवीर्य नामक राजा हुए। इन कृतवीर्य के पुत्र ही अर्जुन हुए, जो सहस्रबाहु होने के कारण सहस्रार्जुन के नाम से विख्यात हुए। कृतवीर्य के पुत्र होने से वे कार्तवीर्य भी कहलाये। ये सहस्रार्जुन भगवान् के दिव्यायुध-चक्र-के अवतार माने जाते हैं। इनकी पूजा भगवान् के ही समान शास्त्रों में बताई गई है। नारद पुराण में इनकी पूजा-पद्धति विस्तार से वर्णित है। इनकी २४ अक्षर की गायत्री भी है। इनके कवच भी हैं। उपासना करने वालों को ये अब भी सिद्धि देते हैं। ये

माहिष्मतीपुरी में राज्य करते थे। भगवान् दत्तात्रेय का इन्होंने शिष्यत्व स्वीकार किया था। उनकी ये श्रद्धा-भक्ति-सहित सदा सेवा करते थे। उन्हीं की कृपा से इन्हें अणिमा, महिमा, लघिमा आदि समस्त महासिद्धियाँ प्राप्त थीं। इन्होंने इतने भारी भारी यज्ञ किये, अनेक प्रकार के इतने दान दिये, ऐसी-ऐसी तपस्याएँ कीं, इतने भारी-भारी शूर वीरता के कार्य किये कि दूसरे राजा तो मन से भी उन कार्यों की कल्पना करने मे असमर्थ थे। पचीस हजार वर्ष तक इन्होंने पृथ्वी पर एक छत्र-अखण्ड शासन किया। एक सहस्र उनके पुत्र थे। संसार में उन दिनों रावण सर्वश्रेष्ठ योद्धा समझा जाता था। उस रावण को इन्होंने वानर की भाँति बाँधकर अपने महलों मे रखा था। उसके दशों सिरों पर दश दीपक रखकर जलाता था, इनके अन्तःपुर की स्त्रियाँ रावण को देखकर हँसती थीं।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! रावण की और सहस्रार्जुन की भेंट कहाँ हुई और इनमें लड़ाई क्यों हुई, कृपा करके इस कथा को हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! जो शूरवीर होता है, उसके हाथ युद्ध के लिये खुजलाते रहते हैं। रावण ने तपस्या के द्वारा अनेकों वरदान प्राप्त किये थे। उन वरदानों के कारण वह सबको जीत लेता। यहाँ तक कि उसने इन्द्र तथा अन्यान्य सभी लोकपालों को जीत लिया। इससे उसका दर्प और भी अधिक बढ़ गया। वह अपने सामने किसी को कुछ समझता ही नहीं था। जब सब लोकपालों को जीत कर वह पृथ्वी पर घूमता था, तब उसने सहस्रार्जुन की प्रशंसा सुनी और झट अपने मन्त्रियों और सैनिकों सहित माहिष्मतीपुर में आया।"

उस समय सहस्रार्जुन अपनी सैकड़ों पत्नियों को लिये हुए

नर्मदा-तट पर जल-विहार करने गया हुआ था। आते ही रावण ने पुर-रक्षकों से कहा—"तुम जाकर राजा सहस्रार्जुन से कह दो कि रावण युद्ध के लिये आया है।"

पुर-रक्षकों ने कहा—"देव! इस समय महाराज नर्मदातट पर जल-विहार के निमित्त गये हुए हैं। नगर में तो वे हैं नहीं।"

इतना सुनते ही रावण सीधे ही पुण्यतोया भगवती नर्मदा के तट की ओर चल दिया। पुष्पक विमान से ही उसने पापनाशिनी भगवती रेवा के दर्शन किये—वह पर्वतों को तोड़ती-फोड़ती द्रुत गति से दक्षिण समुद्र की ओर जा रही है, उसके किनारे-किनारे हँस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस आदि जल-जन्तु किलोल कर रहे हैं। वह सबको सुख देने वाली सरिता पाषाण-खण्डों को बहाती हुई तीव्र गति से जा रही थी। उसके दोनों तटों पर ऊँचे-ऊँचे पर्वत थे, जो विन्ध्य पर्वत के ही भाग थे। उन पर अनेक फल और पुष्पों से लदे वृक्ष खड़े थे, मानों वे नर्मदा के प्रहरी हों। नर्मदा-देवी शुभ्र, कृष्ण तथा और भी अनेक रंगों के पाषाण-खण्डों से क्रीड़ा करती हुई अट्टहास करती, इठलाती, कुटिल गति से प्रवाहित हो रही थी। रावण उसके किनारे पर पहुँचकर पुष्पक विमान से उतरा और अपने मंत्रियों से बोला—"मैं इस पुण्यतोया नर्मदा के तट पर स्नान-सन्ध्या और वशि-पूजन करना चाहता हूँ। आप सब सेवा की सामग्री एकत्रित करें।"

रावण की आज्ञा पाकर सेवकों ने तुरन्त ही यथा-विधि प्रबन्ध किया। नर्मदाजी की शुभ्र बालुका में डेरे-तम्बू लग गये। रावण सदा अपने साथ सुन्दर शिवलिङ्ग रखता था। उसने एक स्थान पर शिवजी की स्थापना की और स्नान करने नर्मदाजी के जल में उतरा। उसने मल-मल कर नर्मदा के

नयनाभिराम नीर में स्नान किया। स्नान करके उसने शुद्ध-शुभ्र रेशमी वस्त्र पहने और शिवनाम का जप करते हुए पूजा-स्थान पर आया। उसने पहले से ही सेवकों को पुष्प और विल्वपत्र लाने के लिये आज्ञा दे रखी थी। तब तक बहुत से राक्षस भी डालियों में फूल और विल्वपत्र ले लेकर आ गये। पुष्पों का वहाँ एक ढेर लग गया। रावण उस सुगन्धित पुष्पों के ढेर को देखकर परम प्रमुदित हुआ। वह विधिवत् आसन-शुद्धि और करन्यास, हृदयन्यास तथा अङ्गन्यास करके पूजा करने में प्रवृत्त हुआ।

इधर जहाँ रावण पूजा करने बैठा था उससे आधा योजन नीचे सहस्रार्जुन अपनी सुन्दरियों के सहित सरिता के स्वच्छ सुन्दर-सलिल में क्रीडा कर रहा था। क्रीडा करते-करते उसे एक उमग सूझी। उसने अपनी स्त्रियों से कहा—"तुम सब मेरी बाहुओं को कसकर पकड लो। देखो, मैं अभी नर्मदा के प्रवाह को रोके देता हूँ।"

स्त्रियों को तो खेल ही चाहिये! गरमियों के दिन थे। जल अत्यन्त प्यारा लगता था। वह वली नर्मदा के बीच सुमेरु के सदृश खड़ा हो गया। उसने अपनी सहस्रों भुजाओं को फैलाकर रेवा के प्रवाह को रोक दिया। जल आगे न जाकर वहीं सरोवर की भाँति रुक गया, पीछे भरने लगा। जहाँ रावण पूजा कर रहा था, वहाँ भी जल भर गया। रावण अभी पूरी पूजा भी नहीं कर पाया था कि उसके पुष्प, विल्वपत्र तथा पूजा की अन्यान्य सामग्रियाँ बह गईं। रावण ने आश्चर्य के साथ सोचा—"यह सहसा बाढ़ कैसे आ गई? यदि यहीं वर्षा होती, तो यहाँ का जल गंदला आता। यह जल तो बड़ा निर्मल है। बाढ़ तो ऊपर से आती है। जल नीचे से ऊपर आ रहा है। निश्चय नीचे किसी कारण से नदी का प्रवाह रुक गया है। यह सोचकर उसने ताली

बजा कर सकेत से अपने मत्री शुक और सारण दोनों को बुलाया। पूजा मे वह बोल तो सकता नहीं था। हाथ के संकेत से उसने समझाया कि तुम लोग पता लगाओ, यह जल कैसे बढ गया।"

शुक-सारण तो रावण के संकेतों को समझते ही थे। वे तुरन्त आकाश मार्ग से नदी के प्रवाह के नीचे की ओर गये। आधा योजन जाने पर उन्हें नदी के बीच सुमेरु के सदृश सहस्रार्जुन स्त्रियों से घिरा दिखाई दिया। वे सब रहस्य समझ गये और तुरन्त आकर उन्होंने रावण को इसकी सूचना दी—"प्रभो! एक सहस्रबाहुओं वाला पुरुष नर्मदा के प्रवाह को रोके खड़ा है। इसी कारण इतना जल बढ़ गया है।"

इतना सुनते ही रावण को क्रोध आ गया। वह पूजा-पाठ सब भूल गया। शीघ्रता से पूजा समाप्त करके तथा अपनी पूजा की वस्तुओं को बांधकर युद्ध करने सहस्रार्जुन के समीप चला। दूर से ही उसने सहस्रार्जुन को स्त्रियों से घिरा उसी प्रकार देखा, जैसे कोई गजराज हाथियों से घिरा खड़ा हो। वह कार्तवीर्य के समीप जाने लगा। राजा के सैनिकों ने उसे रोका और कहा—'राजन्! अभी महाराज जल-क्रीडा कर रहे हैं। वे स्त्रियों से घिरे हुए हैं। यह युद्ध का समय नहीं है। आमोद-प्रमोद और विहार की वेला है। आप उनसे युद्ध करना चाहते हैं, तो एक रात यहाँ विश्राम करें। कल आपकी इच्छा-पूर्ति हो सकती है।"

महा अभिमानी रावण भला इतना धैर्य कैसे धारण कर सकता था? उसने सैनिकों को डाँटते हुए कहा—"चुप रहो, राजा को मेरे आने की सूचना दो। मैं अभी युद्ध करना चाहता हूँ।"

यह सुनकर सहस्रार्जुन के मन्त्री ने कहा—"यदि ऐसे ही

आपके हाथ खुजला रहे हैं, तो हमसे युद्ध कीजिये। महाराज के समीप आप नहीं जा सकते।"

इस पर रावण ने क्रोध करके शुक-सारण, आदि अपने मन्त्रियों से कहा—"तुम इन सब मन्त्री-सैनिकों को युद्ध में परास्त करो।"

इतना सुनते ही रणरंगी दुर्मद राक्षस उन मन्त्रियों और सैनिकों पर टूट पड़े। वे राक्षस भूखे थे। अतः सब सैनियों और मन्त्रियों को खा जाते। राक्षसों को ऐसी लीला देखकर कार्तवीर्य राजा के सैनिक भागने लगे। इस पर दूसरे सैनिक आ गये। वे राक्षसों का संहार करने लगे। दोनों ओर से भयंकर युद्ध होने लगा। युद्ध ने जब भीषण रूप धारण कर लिया और सहस्रार्जुन के वीर हारने लगे, तब किसी ने डरते-डरते राजा को रावण के आने, उसके साथ होने वाले युद्ध की सूचना दी। सुनते ही वीर-मानी अर्जुन स्त्रियों-सहित जल से बाहर निकला। उसने स्त्रियों से कहा—"तुम सब यहीं बैठकर आनन्द से खाओ पीओ, नाचो-गाओ। एक बन्दर आ गया है, वह बड़ा उपद्रव मचा रहा है, उसे मैं पकड़ लाऊँ। तुम लोग डरना मत।" यह कहकर वह हाथ में फरसा लेकर रावण की ओर चला।

सहस्रबाहु अर्जुन को अपनी ओर आते देखकर रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने भीषण गर्जना की और दोनों परस्पर भिड़ गये। वह उसे मारता, वह उसे पछाड़ता वह उस पर प्रहार करता, वह उसे बाणों से आहत करता। दोनों ही वीर थे, दोनों ही त्रैलोक्य विजयी। दोनों ने ही तपस्या करके वर प्राप्त किये थे। एक के बीस भुजायें थीं, तो दूसरे के दश सौ।

बड़ी देर तक युद्ध होता रहा। रावण को तो अवध्यता का वर प्राप्त था, इसलिये अर्जुन उसे मार न सका, किन्तु बड़े वेग से उछल कर उसकी छाती में एक गदा मारी, जिससे वह मुख से रक्त उगलने लगा। इसी बीच सहस्र बाहुओं से पकड़ कर रावण को अर्जुन ने बाँध लिया और उसे घसीटता हुआ स्त्रियों के पास लाया। स्त्रियाँ उसके दश शीश और बीस भुजायें देखकर बहुत हँसी राजा उसे 'पशु' की तरह बाँधकर माहिष्मतीपुर में ले गया और अन्तःपुर में ले जाकर उसे बाँध दिया।

देवताओं के द्वारा स्वर्ग में यह समाचार भगवान् पुलस्त्य ने सुना। अपने नाती का इस प्रकार पराभव और उसके बन्धन की बात सुनकर समदर्शी ऋषि से भी न रहा गया। कैसा भी राक्षस क्यों न हो, है तो अपने बेटे का बेटा ही। तुरन्त आकाश मार्ग से उड़कर पुलस्त्यजी माहिष्मतीपुरी में पधारे। उनके आगमन की सूचना सहस्रार्जुन को सेवकों ने दी। कार्तवीर्य महाराज अर्जुन ने भी मूर्तिमान सूर्य के समान देदीप्यमान ऋषि को आकाश से उतरते देखा। राजा अपने मन्त्रियों और पुरोहितों के सहित हाथ जोड़कर खड़े हो गये। मुनि जब आकाश से उतर कर पृथ्वी पर आ गये, तब राजा ने उन्हें पाद्य, अर्घ्य प्रदान कर शास्त्रीय विधि से उनकी पूजा की। अर्जुन की पूजा को ग्रहण करके मुनि राजा के दिये हुए आसन पर सुखपूर्वक बैठ गये। तब सहस्रार्जुन ने हाथ जोड़कर कहा—प्रभो ! आज मैं आपके देव-दुर्लभ दर्शनों को पाकर धन्य हुआ, कृतार्थ हुआ। मेरे समस्त पितर तर गये। मेरी समस्त लौकिक-वैदिक क्रियायें सफल हुईं, मेरे सब मनोरथ पूर्ण हुए, जो आपने अपनी पावन पद-रज से इस पुरी को पुनीत बनाया। मेरा राज-पाट, धन कोष, स्त्री-परिवार—सब आपका ही है। मैं

अपना सर्वस्व आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। मेरे लिये कोई आज्ञा हो, तो बताइये।"

पुलस्त्य मुनि ने प्रसन्नता प्रकट करते हुये कहा—"राजन्। आप ससार मे अद्वितीय वली हैं। आपके समान बलवान् ससार म दूसरा कोई भी नर-पति नहीं। आपने मेरे पौत्र की विश्व व्यापा कीति का हनन किया हे। आज तीनों लोकों मे आपका यश गाया जा रहा हे। यद्यपि मेरा यह पौत्र राक्षस हे, फिर भी कुल स्नेह के कारण मैं आपसे कहता हूँ, अब आप इसे छोड दें। इस प्रकार पशु की भाँति इसे वाँध रखना उचित नहीं। इतना सुनत ही महाराज कार्तवीर्य ने मुनि को कुछ भी उत्तर नहीं दिया, तत्काल रावण को बन्धन से मुक्त कर दिया। उसे अच्छे अच्छे वस्त्र भूपण भेंट मे दिये ओर उससे हार्दिक मैत्री स्थापित की। सहस्रार्जुन से सत्कृत होकर रावण ने अपने बाबा पुलस्त्यजी के लजाते हुए पैर छूए। मुनि ने भी उसे वात्सल्य स्नेहवश छाती से लगाया। इस प्रकार दोनो में मैत्री स्थापित करके मुनि दोनो द्वारा पूजित होकर ब्रह्मलोक चले गये। इधर रावण भी सहस्रार्जुन से आज्ञा माँग कर आगे बढ गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। महाराज कार्तवीर्य अर्जुन का ऐसा प्रभाव था। ससार मे उन्हे कोई युद्ध में जीत नहीं सकता था। वे ५०० हाथों में ५०० धनुप लेकर एक साथ ५०० बाण छोडते थे। वे कभी थकते नहीं थे। जरा, भय, रोग ग्लानि, तन्द्रा, निद्रा उनके पास भी नहीं फटकती थी। वे अणिमादि-समस्त सिद्धियों से युक्त थे। इतना ऐश्वर्य पाकर उन्हे प्रमाद हो गया। वे देवता ओर ब्राह्मणों का अनादर करने लगे। उनके विरुद्ध वायु-मण्डल मे विद्वेप के भाव उत्पन्न हो गये। देवता मिलकर ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्माजी ने उन्हें विष्णु के पास

भेजा। विष्णु भगवान् ने रुद्रदेव से सब कहा। रुद्रदेव चंद्र के पास गये, फिर सूर्य के पास। सारांश सभी उनके विरुद्ध षडयन्त्र रचने लगे। जो जनता की दृष्टि में गिर जाता है, आकाश-मंडल में उसके विरुद्ध वातावरण उत्पन्न हो जाता है। सूर्यदेव ब्राह्मण का वेश बनाकर उसे शाप दिलाने के निमित्त माहिष्मतीपुरी में पहुँचे। ब्राह्मण को देखते ही राजा कार्तवीर्य ने उनका स्वागत-सत्कार किया और उनसे उनके वहाँ आने का कारण पूछा।"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! मैं भूखा हूँ, मुझे भोजन दीजिये।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरे घर में सभी प्रकार के भोजन हैं, आप जो चाहें, पेट भर खायें।"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! मैं साधारण ब्राह्मण नहीं हूँ। इन साधारण अन्नों से मेरी तृप्ति न होगी।"

राजा बोले—"भगवन्! आपकी जिस वस्तु से तृप्ति हो, उसी के लिये आज्ञा कीजिये। मैं वही उपस्थित करूँगा।"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! आप मुझे अनित्य समझिये। मैं इन स्थावर वृक्षों को खाना चाहता हूँ। इनसे मेरी तृप्ति होगी।"

सहस्रार्जुन बोले—"भगवन्! वृक्ष तो सब पृथ्वी में उगे हुए हैं। उन्हें मैं आपको कैसे खिला सकता हूँ।"

ब्राह्मण बोले—"आप अपने रथ पर चढ़कर बाण छोड़ें। जिन-जिन वृक्षों पर आप बाण छोड़ेंगे, उन्हें मैं जलाकर भस्म कर दूँगा। ऐसा करने से मेरी तृप्ति होगी।"

राजा ने अतिथि सत्कार के लिये यह बात स्वीकार की। अपने दिव्य रथ पर चढ़कर वे जिस वृक्ष को लक्ष्य करके बाण छोड़ते, तुरंत वही वृक्ष जलकर भस्म हो जाता। इस प्रकार असंख्य वृक्ष भस्म हो गये। मुनि वशिष्ठ का आश्रम भी इसी

लपेट मे आ गया, उनके आश्रम के भी सब वृक्ष जल गये। ब्राह्मण तो अपना स्वार्थ-साध के चलते बने। विपत्ति बेचारे सहस्रार्जुन के सिर आई। राजा ज्योंही अरण्य से नगर मे आये, त्योंही उन्हें लाल-लाल आँखें किये, क्रोध में भरे, भगवान् वशिष्ठ दिखाई दिये। वशिष्ठजी ने राजा को देखते ही शाप दिया—"राजन्, एक ब्राह्मण के कहने से तुमने इतने निरपराध वृक्षों का उन्मूलन कर दिया! इस प्रकार तुम्हारे भी सहस्रों हाथो का छेदन कोई राम नामक ब्राह्मण करेगा।" यह सुनकर सहस्रार्जुन हँस पडा। उसने सोचा—"बड बडे क्षत्रिय इन्द्रादि लोकपाल तो मेरे सम्मुख खडे नहीं होते, ब्राह्मण मेरी बाहुओं का क्या छेदन करेगा?" इसीलिये उसने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। वशिष्ठजी शाप देकर अपने आश्रम को चले गये और राजा सहस्रार्जुन अपने तेज, बल, वीर्य, वीरता, आदि के मद मे भरकर किसी को कुछ समझता ही नहीं था। रावण को जीतने से उसका अभिमान और भी बढ गया। भगवान् तो भक्तो के अभिमान को सदा हटाते ही रहते है। अभिमान ही तो उनका आहार है। वे किसी के अभिमान को चिरस्थाई नहीं बनने देते। सहस्रार्जुन का अभिमान भी परकाष्ठा पर पहुँच गया था। भगवान् ने परशुराम-रूप रखकर अभिमान सहित उसे चूर-चूर कर दिया। उसने परशुरामजी के पिता का अपमान किया था।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! परशुरामजी के पिता जमदग्नि का अपमान राजा कार्तवीर्य सहस्रार्जुन ने क्यों किया? फिर ब्राह्मण होकर भी श्री परशुरामजी ने युद्ध क्यों किया? उन अपराधियों को क्षमा क्यों नहीं कर दिया?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! हत्या की जड तो यह कामना है। किसी पदार्थ को देखकर उसे पाने की इच्छा होती है, मन में लोभ आता है, इच्छा पूर्ति न होने पर क्रोध आता है। क्रोध में तो आदमी पागल हो जाता है, अपने पराये को भूल जाता है। महर्षि जमदग्नि से कैसे सहस्रार्जुन का विरोध हुआ, उस प्रसङ्ग को मैं आपको सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर इस प्रसङ्ग को श्रवण करें।

छप्पय

मुनि पुलस्त्य निज पौत्र पराभव अति सकुचाये।
उतरि अवनि पै तुरत नृपति अर्जुन ढिग आये।
कार्तवीर्य सत्कार कर्यो मुनि आयसु दीन्हीं।
छोड्यो रावन तबहिँ, मित्रता गाढ़ी कीन्हीं॥
यों जग जीत्यो जोग तैं, अतिशय मद बल को बढ्यो।
मम समान जग को बली, भूत भूप के सिर चढ्यो॥

सहस्रार्जुन और परशुराम-पिता जमदग्नि

[७३६]

स एकदा तु मृगयां विचरन् विपिने वने।
यदृच्छयाऽऽश्रमपदं जमदग्नेरुपाविशत् *॥
(श्री भा० ६ स्क० १५ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

एक दिवस आखेट करन वन भूप पधारे।
तेज-पुञ्ज जमदग्नि निजाश्रम माँहिँ निहारे॥
हैहय-वशी नृपति समुझि मुनि कीन्हों आदर।
करयो निमन्त्रण सैन्य-सहित नृप मान्यो सादर॥
कामधेनु की कृपा तैं, करे तृप्त सैनिक सकल।
धेनु सिद्धि लखि सहसभुज, लोभ भयो मन महँ प्रबल॥

संसार मे एक-से-एक सुन्दर आकर्षक तथा सिद्धि देने वाली वस्तुएँ हैं। यदि इन सबको हम भगवान् की कृति समझें,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! एक दिवस कार्तवीर्य महाराज सहस्रार्जुन दैवयोग से गहन वन मे मृगया करते समय महामुनि जमदग्नि के आश्रम पर आ निकले।"

और जो जहाँ है, वहीं उसका आदर करें, तो संघर्ष न हो। जब एक वस्तु को अपनाने के निमित्त अनेक इच्छा करते हैं, एक उसे अपनी बनाना चाहता है, दूसरा उसे देना नहीं चाहता, तब संघर्ष होता है, युद्ध, रक्तपात और सर्वनाश होता है। पाप का मूल लोभ है। लोभी पुरुष परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी आसक्ति तो काम में है। जहाँ काम है, वहाँ राम नहीं। राम को पाकर काम समाप्त हो जाता है।

सूतजी कहते हैं–"मुनियो! हैहयराज महाराज अर्जुन सहस्र भुजा पाकर तथा रावणादि प्रबल पराक्रमी वीरों को जीत कर अपने को विश्व-विजयी तथा सब का ईश्वर समझने लगे। एक दिन वे अपने मन्त्री, सेनापति तथा बहुत से सैनिकों को साथ लेकर आखेट के लिए वन में गये। वे अनेक सिंह, व्याघ्र तथा जंगली शूकरों को मारते हुए गहन वन में निकल गये। वहाँ पहुँचकर सबके सब प्यास के कारण व्याकुल हो गये, पानी की खोज में जलाशय को ढूँढते-ढूँढते दैववश महर्षि जमदग्नि के आश्रम पर जा पहुँचे।

मुनि ध्यान-मग्न थे। महाराज सहस्रार्जुन ने मुनि के पाद-पद्मों में प्रणाम किया और उनका कुशल पूछा। मुनि ने देखा कि ये यदुवंश के परम पराक्रमी राजा महाराज कार्तवीर्य सहस्रार्जुन हैं और संयोग से मेरे आश्रम पर आये हैं, तो उन्होंने उनका हार्दिक स्वागत किया। अर्घ्य देकर उनका नृपोचित सम्मान किया। कुशल पूछकर उन्होंने प्रेम पूर्वक प्रश्न किया—"राजन्! इस समय आप कहाँ से पधारे हैं?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं वन में आखेट करने आया था। अकस्मात् मुझे आपका आश्रम दिखाई दिया। बस, आपके दर्श-

नार्थ मैं यहाँ चला आया और आपके दर्शन कर कृतार्थ हुआ।"

मुनि ने कहा—"यह मेरा बडा सौभाग्य है, जो आज मैं इतने योग्य अतिथि को पा सका हूँ। राजन् ! आप मेरे आश्रम पर पधारे हैं। अपने आश्रम पर चाहे चडाल भी आवे, उसका भी भगवत बुद्धि से सत्कार करना चाहिये। फिर आप तो नराधिप हे, यशस्वी हैं, कीर्तिशाली हैं सम्राट हैं, सहस्रों यज्ञ करने वाले हैं, भगवान् के अंशावतार हैं। आज आप अपने सब साथियों सहित मेरा आतिथ्य स्वीकार करें।"

सहस्रार्जुन ने कहा—"ब्रह्मन् ! आपका आतिथ्य मैंने तो स्वीकार कर लिया। आप ने मेरा इतना आदर किया। अयोग्य होने पर भी आप ने मुझे अर्घ्य प्रदान किया, मधुर वाणी से कुशल पूछा, आश्रम के फल-फूल दिये। मे आपके इतने ही सत्कार से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ।"

मुनि बोले—"राजन ! यह तो हमने सदाचार का पालन किया है। मैं चाहता हूँ कि आप समस्त साथियों-सहित यहाँ निवास करें, प्रसाद पावें और यहाँ अपने श्रमको मिटावें।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! मेरे साथ तो बहुत आदमी हैं—सहस्रों सैनिक हैं, हाथी, घोडे, ऊँट, बडा-बडा भारी आडम्बर हे। आप त्यागी विरागी महात्मा हैं, कहाँ इतनी खट पट करेंगे ? कहाँ से इतना सामान लावेंगे ? वाणी से ही आपका सत्कार यथेष्ट हे ?"

मुनि ने दृढता से कहा—राजन ! आप इस बात की चिन्ता न करें सब प्रबन्ध हो जायगा।"

राजा को बडा कुतूहल हुआ। इस लँगोटीधारी साधु का साहस तो देखो। यह मेरी समस्त सेना का सत्कार करना चाहता है। अब तक तो राजा शिष्टाचार समझ रहे थे, किन्तु मुनि के

दृढ़ वचनों से उन्हें बड़ा विस्मय हुआ! फिर भी बात को पुष्ट करने के लिये बोले—"नहीं भगवन! आप सब कुछ करने में समर्थ हैं। फिर भी क्यों कष्ट करेंगे? सैनिक तो उद्धत होते हैं। आपकी कृपा बनी रहे, यही बहुत है।"

मुनि ने कहा—"नहीं राजन्! इसमें कष्ट की कौन-सी बात है? यह तो मेरा परम सौभाग्य है, जो आपका आतिथ्य कर सकूँ। सैनिकों की आप चिन्ता न करें। जो जैसी वस्तु चाहेगा, उसे वैसी ही वस्तु दी जायगी। मुझे इसमें बड़ी प्रसन्नता होगी।"

राजा का कुतूहल बढ़ता जा रहा था। इन फूँस की झोंपड़ियों में मुट्ठीभर नीवर के चावल रखे होंगे। एक गौ बँधी है। इसी से मुनि लाखों आदमियों का आतिथ्य करना चाहते हैं। सो भी मनमानी वस्तु देने के लिये कह रहे हैं। राजा ने परीक्षार्थ ऊपरी शिष्टाचार-वश कह दिया—"मैं आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन तो कर ही नहीं सकता। आपकी आज्ञा, वही मुझे स्वीकार है।"

इतना सुनते ही मुनि प्रसन्न हो गये। कामधेनु से उन्होंने कहा—"देवि! ये माहिष्मती के महाराज हैं। इनका तथा इनके साथियों का इनके अनुरूप स्वागत सत्कार करो।"

इतना सुनते ही कामधेनु ने सभी सुखोपभोग की सामग्रियाँ उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया। बात की बात में आश्रम के समीप राज सभा बन गयी। राजा के लिये सुवर्ण का सिंहासन सज गया। इन्द्र की सभा के समान सभा भवन सुसज्जित हो गया। उसमें सैकड़ों अत्यन्त सुन्दरी अप्सराएँ सेवा के लिये समुपस्थित हो गयीं। मन्त्रियों के पृथक्-पृथक् भवन बन गये। सैनिकों के सैकड़ों सजे-सजाये सुन्दर शिविर सामने ही शोभित होने लगे। सेनापतियों के लिए भव्य भवन खड़े हो गये;

हाथियों, घोड़ों तथा रथों के स्थान पंक्ति बद्ध पृथक् बने हुए थे। बात की बात में इन सब सामग्रियों की सृष्टि हो गई। दूध दही, घृत तथा ईख के रस की नदियाँ बह रही थी। सबके सम्मुख ५६ प्रकार के सजे-सजाये सुन्दर थाल सुन्दरियों द्वारा स्वतः ही समुपस्थित किये गये। अमृत तुल्य फलों के ढेर लगे थे, जिनमें से रस चू रहा था। उन अमृत तुल्य फलों और दिव्य पदार्थों को पाकर सभी मदोन्मत्त हो गये। जो जिस वस्तु की इच्छा करता, उसे वही वस्तु वहाँ तैयार दिखाई पड़ती। सभी विस्मित थे मुनि के प्रभाव पर, उनके अलौकिक सामर्थ्य पर। बहुत से सैनिक सोचने लगे—'अब कौन घर लौटकर जाय, यहीं बाबाजी के आश्रम पर रहेंगे, माल उड़ायेंगे।' बहुत से कहने लगे—बाबा जी बड़े चमत्कारी हैं।" इस प्रकार आपस में बात करते करते वे स्वर्ग की भाँति आनन्द-विहार कर रहे थे। राजा सहस्र बाहु भी विस्मित थे। मुनि के ऐसे ठाट-बाट देखकर उनके मन में लोभ उत्पन्न हुआ। कहाँ तो अर्जुन को प्रति आभार प्रदर्शित करना चाहिये था, कहाँ अब राजा के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो गई। वे सोचने लगे—"इस लँगोटिया बाबाजी का ऐश्वर्य तो हमसे भी बढ़कर है। हमसे ही क्यों, संसार में किसी भी राजा का ऐसा ऐश्वर्य नहीं है। यह धेनु की ही करामात है। इस धेनु के बल पर ही मुनि इतनी उछल-कूद मचाते हैं। सब कुछ देने वाली वह गो ही है। यह गौ क्या, रत्न है। ऐसी गौ का बाबाजी के यहाँ क्या काम ? यह तो राजाओं के योग्य है। हमारे यहाँ रहेगी, तो नित्य इससे तो मनमानो वस्तुएँ माँगा करेंगे, दूसरे राजाओं का सत्कार किया करेंगे। हमारा बड़ा नाम भी होगा।"

यह सोचकर राजा मुनि के पास गये और बनावटी शिष्टाचार पूर्वक बोले—"मुनिवर ! आपने हम सबों का बड़ा ही उत्तम

आतिथ्य किया। हम सभी आपके स्वागत सत्कार से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। अब हम आप से एक वस्तु माँगते हैं।"

मुनि ने कहा—"राजन्! माँगना क्या? सब वस्तुएँ आपकी ही हैं। कहिये, कौन सी वस्तु आप चाहते हैं।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन! इस कामधेनु को मुझे दे दीजिये। "इसके बदले में आप और जितनी गायें कहें, मैं आपको भिजवा दूँ।'

मुनि ने नम्रता के साथ कहा—"राजन्! यही तो मुझे यज्ञीय सब सामग्री देती है इसी के द्वारा तो मेरे सब इहलौकिक तथा पारलौकिक कार्य होते हैं। देवता, ऋषि, पितर तथा अतिथियों का सत्कार मैं इसी के द्वारा करता हूँ। इसे लेकर आप क्या करेंगे? आप तो राजा हैं।"

सहस्रार्जुन ने कहा—"ब्रह्मन! आप इस एक के बदले जितनी चाहेंगे, उतनी गायें मैं भेज दूँगा। आप तो त्यागी-विरागी बाबाजी ठहरे! यह तो रत्न है। रत्न रखने का अधिकार राजा को ही है।"

मुनि बोले—"यह सत्य है। किन्तु यह रत्न तो ऐसा है, जो किसी को दिया नहीं जा सकता।"

डाँटकर राजा ने कहा—"अब तक तो मैं सरलता के साथ माँग रहा था। आशा थी, आप प्रसन्नतापूर्वक इसे मुझे दे देंगे। अब देखता हूँ, आप इसे स्वेच्छा से देने को तत्पर नहीं हैं। अच्छी बात है, इस गौ को मैं छोड़ नहीं सकता।"

मुनि ने गम्भीरता के साथ कहा—"राजन! यह आपका अन्याय है। राजा होकर जब आप ऐसा अन्याय करेंगे, तब लोग न्याय के लिये किसके समीप जायँगे?"

राजा ने क्रोध से झल्लाकर कहा—"मैं राजा हूँ, राजा की आज्ञा ही न्याय है। जो राजा की आज्ञा का पालन नहीं करता,

वही अन्याय करता है। अन्याय मुनिवर, आप कर रहे हैं, जो राजा के कहने पर भी एक गाय नहीं दे रहे हैं। अब देखिये, मैं बलपूर्वक इसे लिये जाता हूँ। जो कुछ करना हो, कर ले।"

मुनि ने विवशता के स्वर में कहा—"मैं क्या करूँगा। हम ब्राह्मणों के पास तो एक क्षमा ही अस्त्र है। मैं इसे स्वेच्छा से

तो दे नहीं सकता, बल पूर्वक ले जायँगे, तो मैं आपके हाथ भी न पड़ूँगा, किन्तु इसका परिणाम बड़ा भयंकर होगा।"

राजा ने दर्पपूर्वक कहा—"जो भी परिणाम होगा, उसे मैं देख लूँगा। इसको तो मैं अवश्य ले जाऊँगा।" यह कहकर

उसने सेवकों से कहा—"वीरो ! क्या देखते हो, इस गौ को बछड़ा सहित खोल लो और राजधानी को ले चलो।"

अब क्या था, राज-सेवक तो उद्दण्ड होते ही हैं, उन्होंने गौ को बछड़ा सहित खोल लिया और उसे ले चले। गौ जाती नहीं थी। किन्तु; उन निर्दयी सेवकों ने उसे नहीं छोड़ा। उसे डंडों से पीटते हुए माहिष्मतीपुरी की ओर ले चले।

गौ को लेकर सहस्रार्जुन परम प्रसन्न हुए। वह मार्ग में सोचते जाते थे—"बाबाजी कैसे अभिमान से कहते थे कि मैं गाय न दूँगा, इसका परिणाम अच्छा न होगा। अब गाय दी या नहीं ? मेरा क्या कर लिया ? इससे अब नित्य ५६ प्रकार के पदार्थ पैदा कराया करेंगे, खूब खायँगे, खूब लुटायँगे, संसार में नाम कमायँगे, सबसे श्रेष्ठ कहलायँगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह प्राणी लोभ में भरकर दूसरों की वस्तुओं पर मन चलाता है, भाँति-भाँति के मनसूबे बाँधता है। अन्त में उन सब मनसूबों को बिना पूर्ण किये ही निराश होकर संसार से चल देता है ! सहस्रबाहु दर्प में भरकर कामधेनु को क्या लाया, मानों मृत्यु को ही स्वेच्छा से निमंत्रित किया अपना सर्व-नाश बुला डाला ! इस लोभ से उसकी तथा उसके परिवार वालों की जो दुर्गति हुई, उसे आप सब सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

माँगी नृप मख-धेनु नहीं मुनिवर ने दीन्हीं।
बल प्रयोग करि पकरि धेनु भृत्यनि ने लीन्हीं॥
बार-बार चिल्लाइ नयन तैं नीर बहायें।
बछरा बनिके विकल लखै, जननी डकरावै॥
नृप-हठ जग महँ अति विकट, कामधेनु-पुर लै गये।
परशुराम आये तबहिँ, सुनत रुद्र-सम ह्वै गये॥

परशुरामजी द्वारा कार्तवीर्य का वध

(७४०)

अथ राजनि निर्याते राम आश्रम आगतः ।
श्रुत्वा तत् तस्य दौरात्म्यं चुक्रोधाहिरिवाहतः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १५ अ० २७ श्लोक)

छप्पय

फरसा लीन्हों हाथ, चले नृप-कुल संहारन ।
राम-रूप लखि उग्र लगे हाथी चिंघारन ॥
सहस करनि शर धनुष लिये नृप लरिबे आयो ।
सम्मुख निरख्यो शत्रु, राम तकि परशु चलायो ॥
कर शर धनु, तनु मृग-चरम, अरुन नयन, रिस-युत वदन ।
मनहुँ परशु लै वीर-रस दर्प-दर्प आयो दलन ॥

समर्थ का क्रोध सफल होता है। क्रोध, क्रोध से बढ़ता है। शत्रु को समर के लिये सन्नद्ध देखकर उत्साह बढ़ता है। और वीरों के रोमाञ्च हो जाते हैं। वीरों के लिये समर का शुभावसर प्राप्त हो, तो वे अपना सौभाग्य समझते हैं। यदि शत्रु अपने

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! राजा के आश्रम से निकलते ही परशुरामजी वहाँ आ गये। राजा की दुष्टता का वृत्तान्त सुनकर वे आहत हुए अहि के समान क्रोध में भरकर फुँफकारने लगे।"

समान बलशाली हुआ, तो युद्ध में भी आनन्द आता है और जय पराजय दोनों में ही सन्तोष होता है। अपने से बड़े अथवा समान शत्रु को जीत लिया, तब तो संसार में यश होता है। यदि उससे लड़कर सन्मुख रण में मारे भी गये, तो स्वर्ग प्राप्त होता है। यदि अपने से छोटे को जीत भी लिया, तो कोई प्रशंसा नहीं, यदि दैवयोग से उससे पराजित हो गये, तो संसार में अकीर्ति फैल जाती है। सम्मानित पुरुष की अकीर्ति मरण से भी अधिक दुःखदायी है। अतः युद्ध समान बल-वालों से करना ही श्रेयस्कर है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आश्रम में प्रवेश करते ही परशुरामजी ने अपनी माता के द्वारा सहस्रार्जुन के अन्याय का वर्णन सुना। माता रो रही थीं, शोक के कारण उनके अश्रु रुक नहीं रहे थे। कामधेनु के न रहने से आश्रम की ब्राह्मी श्री नष्ट हो गई थी, सम्पूर्ण आश्रम सूना सूना सा दिखाई देता था। इस पर परशुरामजी को बड़ा क्रोध आया। वे सोचने लगे—"ये राजा कितने दुष्ट हो गये हैं? उन्हें अपने बल-वीर्य, अधिकार तथा ऐश्वर्य का कितना भारी अभिमान हो गया है? ये जिस पत्तल में खाते हैं, उसी में छेद करते हैं! इन्हें सद् असद् का विवेक नहीं रह गया है! मेरे पिता ने इसके साथ कैसा शिष्टतापूर्ण व्यवहार किया! किन्तु वह अपनी दुष्टता को न छोड़ सका, हमारी कामधेनु को बलपूर्वक ले गया! अच्छी बात है, बच्चू को उसके किये का फल चखाऊँगा, उसे बताऊँगा कि ब्राह्मण केवल माला खटखटाना ही नहीं जानते, वे अस्त्र शस्त्र चलाने में भी निपुण होते हैं।" यह सोचकर उन्होंने समिधा का गट्टर वहीं डाल दिया। अपना फरसा उठाया और पीठ पर बाणों से भरे दो अक्षय तूणीर लटकाये, कमर में तलवार बाँधी,

पीछे ढाल लटकाई, और हाथ में धनुष लेकर वे सिंह के समान गरजते हुए माहिष्मतीपुरी की ओर दौड़े। माता ने बताया था—"वह राजा अभी कुछ ही काल पूर्व यहाँ से सेना-सहित गया है। परशुरामजी अपने पिता के समीप भी नहीं गये। उन्होंने माता से इतना ही कहा—"माताजी। आप चिन्ता न करें। मैं अपनी धेनु ले आऊँगा, तभी आकर परम पूजनीय पिताजी के पाद पद्मों में प्रणाम करूँगा। मैं कामधेनु से वियुक्त अपने पिता के म्लानमुख को देखना नहीं चाहता।" रेणुका आश्रम के द्वार पर खड़ी देखती ही रहीं। क्षणभर में परशुरामजी उनकी आँखों से ओझल हो गये। तब वे लौट आईं और आकर अपने पति से बोलीं—"प्रभो! राम आया था। उसने जब सहस्रार्जुन की करतूत सुनी, सर्प के समान क्रुद्ध होकर गौ छीन लाने गया है। वह कह गया कि गौ लेकर जब आयेगा, तभी पिताजी को प्रणाम करेगा।"

यह सुनकर चिन्ता प्रकट करते हुए महर्षि जमदग्नि ने कहा—"यह तूने अच्छा नहीं किया, राम को राजाके पीछे भेज दिया। राम बड़ा क्रोधी है, उसका मुझमें अत्यन्त अनुराग है। मेरे अपकारी को वह जीवित न छोड़ेगा। बड़ा अनर्थ हो जायगा। हम ब्राह्मणों का अस्त्र तो क्षमा ही है। अब क्या किया जाय!" डरते-डरते रेणुका ने कहा—"प्रभो! मैंने तो उसे बहुत मना किया, आपके पास आने के लिये भी उससे कहा—"किन्तु वह आया ही नहीं। इसमें मेरा कुछ भी अपराध नहीं।"

अन्यमनस्क भाव से भगवान् जमदग्नि ने कहा—"उसे मुझसे मिलकर जाना चाहिये था, अस्तु, जैसी भगवान की इच्छा भगवान् जो भी करते हैं, मंगल के लिये ही करते हैं।" यह कह कर वे चुप हो गये।

इधर परशुरामजी सहस्रबाहु के पीछे इस प्रकार दौड़े, जिस प्रकार गजराज के पीछे दुर्द्धर्ष मृगराज दौड़ता है। सहस्रार्जुन ने माहिष्मती नगरी में प्रवेश भी नहीं किया था, कि गर्जते-तर्जते, भाँति-भाँति के पैंतरे बदलते, परशुराम ने एक दहाड़ मारी। उनकी दहाड़ सुनकर सभी सैनिक तथा राजा उसी प्रकार डर गये, जिस प्रकार सिंह की दहाड़ सुनकर मृग डर जाते हैं। भयंकर दहाड़ सुनते ही सहस्रार्जुन ने पीछे मुड़कर ज्योंही देखा, त्योंही साक्षात् कालान्तक यमराज के समान भगवान् परशुराम उसे दिखाई दिये। उनकी काली-काली लम्बी-लम्बी जटाएँ अस्त व्यस्त भाव से बँधी हुई थीं, कुछ लटें खुलकर इधर-उधर लटक रही थीं। जटाओं की जड़ के छोटे छोटे बाल वायु में बिथुर कर फहरा रहे थे। वे एक कृष्ण मृगचर्म को कमर में बाँधे हुए थे और एक ओढ़े। उस मृग-चर्म के ऊपर बाणों से भरे तूणीर, खड्ग, धनुष करवाल, ढाल, आदि अस्त्र लटक रहे थे। हाथ में चम-चमाता हुआ तीक्ष्ण धारवाला फरसा शोभा दे रहा था। सूर्य के समान उनका तेजोमय मुख-मण्डल प्रकाशित हो रहा था कमल के समान विकसित बड़े-बड़े नेत्र क्रोध के कारण अंगारे के समान अरुण वर्ण के होकर, अग्नि की चिनगारियाँ निकाल रहे थे। लाल-लाल कुटिल अधर क्रोध के कारण फड़क रहे थे। उन्हें कभी कभी वे दाँतों से दबा लेते, तो वे विवशता सी प्रकट करते हुए और भी अरुण वर्ण के बन जाते। उनके ऐसे भयंकर-विकराल वीरवेश को देखकर सहस्रार्जुन पहले तो कुछ डरा, फिर धैर्य धारण करके उसने अपने सैनिकों से कहा—"वीरो! मैं जाता हूँ। यह उस जमदग्नि मुनि का पुत्र परशुराम है, कामधेनु हर लाने के कारण कुपित हो रहा है, किंतु क्षत्रिय के सम्मुख ब्राह्मण का क्रोध किस काम का? यह अकेले हमारा

क्या कर सकता है ? इसे पकड़ लो और मार डालो। ब्राह्मण समझकर इस पर दया मत करना। यह अस्त्र-शस्त्र लेकर लड़ने आया है, आततायी है, वधार्ह है। नगर मे भी सूचित कर दो, मेरी सम्पूर्ण सेना सुसज्जित हो जाय। मैंने इसके पराक्रम की कथाएँ सुनी हैं। शत्रु चाहे निर्बल भी हो, उसकी उपेक्षा न करनी चाहिये।"

इतना सुनते ही कार्तवीर्य के रण-रङ्ग-दुर्मद सैनिक धनुष, बाण गदा, खड्ग, ऋष्टि, शतघ्नी, शक्ति, शूल, तोमर, भुसुण्डी, आदि अस्त्र-शस्त्र लेकर भगवान् परशुराम के ऊपर टूट पड़े। परशुराम ने उन सब को उसी प्रकार मार भगाया, जिस प्रकार एक सिंह सहस्रों मृगों के झुण्ड को भगा देता है।" वह हाथियो, घोड़ों, रथों और पैदल सैनिकों वाली चतुरंगिनी सेना परशुरामजी के सम्मुख उसी प्रकार न ठहर सकी, जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख तिमिरतम नहीं ठहर सकता। जब सब सैनिक मारे गये, तब सहस्रार्जुन ने और भी अधिक सैनिक भेजे। उन्हें भी भगवान् भार्गव ने यमलोक का मार्ग दिखा दिया। इस प्रकार शत्रु की समस्त सेना परशुरामजी ने समाप्त कर दी। उस समय उनका वेग मन और वायु से भी तीव्रतर था। वे जिधर फरसा घुमाते, उधर ही सफाया कर देते। जैसे किसान खेत को काटता है, गोप ग्वाल कुटी काटते हैं, चटाई बनाने वाले सरपत काटते हैं, वैसे ही वे सैनिकों को काट रहे थे। वहाँ रक्त की नदियाँ बह गईं, उनमें सैनिकों के सिर कछुए के समान दिखाई देने लगे। कटे हुए हाथी पर्वतों के समान प्रतीत होते थे। भुजाएँ पाँच फण-वाले सर्पों के समान तैर रही थीं। बहुत से सैनिक अधमरे हुए बिल-बिला रहे थे। बहुतों के सारथी नष्ट हो गये थे। वे टूटे हुए रथ के नीचे ही पड़े थे। बहुतो के घोड़े नष्ट हो गये थे, सवार

समीप ही पड़े सिसक रहे थे। अनेकों की भुजाएँ कट गई थीं, वे छटपटा रहे थे। बहुतों के ऊरु, ग्रीवा, सिर कट गये थे। फिर भी उनके धड़ हिल रहे थे। बहुत से कष्ट के कारण रक्त की कीच में उसी प्रकार लोट रहे थे जिस प्रकार जङ्गली भैंसे छोटे-छोटे तालाबों के कीचड़ में लोटते हैं।

परशुरामजी के कुठार से बहुत से आहत हो गये थे, बहुत से बाणों से बिंधे हुए पड़े थे, बहुतों के अंग अस्त्रों द्वारा छिन्न-भिन्न हो गये। अब ऐसा कोई भी सेनापति बचा नहीं था, जो साहस के साथ समर में जा सके। सभी भयभीत और निरुत्साह हो गये।

सब पर परशुराम का आतङ्क छा गया था। सब में उत्साह भरता हुआ सहस्रार्जुन बोला—"वीरो! कोई बात नहीं। युद्ध में जय-पराजय तो लगी ही रहती है। कभी किसी की विजय होती है, कभी किसी की। अब मैं अपने हजार हाथों से धनुष-बाण धारण करके जाता हूँ। मैं अवश्य ही शत्रु को पराजित कर के रण से लौटूँगा। मेरे सम्मुख यह दो भुजाओं वाला ब्राह्मण ठहर ही क्या सकता है! आज तुम मेरी वीरता देखो।"

यह कहकर वह विशाल धनुष पर बाण चढ़ाकर समर-भूमि में गया। उसके ५०० हाथों में ५०० धनुष थे। ५०० हाथों से उसने एक साथ ही सब धनुषों पर बाण चढ़ाकर परशुराम जी के ऊपर छोड़े। एक साथ ५०० बाणों को अपने ऊपर आते देख रेणुका-नन्दन भगवान् राम तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने बड़े लाघव से एक ही धनुष से इतने बाण एक साथ छोड़े कि वे आते हुए सब के सब बाण कटकर पृथ्वी पर गिर गये।

सहस्रबाहु ने देखा, यह तो महान वीर है। जब तक मैं ५०० हाथों से ५०० बाण छोड़ता हूँ, तब तक यह एक ही बाण से सहस्रों बाण छोड़कर उन्हें व्यर्थ बना देता है। बाणों के युद्ध

मे इससे मैं पार न पा सकूँगा। कोई वडा-सा पर्वत उठाकर इस के ऊपर फेंक दूं, जिसके नीचे पिचकर यह मर जाय। सामने ही बडे शिखर वाला एक पर्वत खडा था। उस पर बडे-बडे ऊँचे वृत्त भी उग रहे थे। सहस्रवाहु ने उस पर्वत को जड से उखाड लिया। जब वह पर्वत को उखाड रहा था, तभी सर्वज्ञ परशुरामजी उसके अभिप्राय को समझ गये। उन्होने अपना तीक्ष्ण धारवाला फरसा उठाकर बडे कौशल से उसकी सहस्रों भुजाओं को एक साथ ही काट डाला। विमानों पर बैठे देवताओं ने परशुराम के इस कार्य की प्रशसा की और उनके ऊपर नन्दन-कानन के पुष्पो की वृष्टि की। विना भुजा के वे वीर राजा शिखर वाले सजीव सुमेरु के समान दिखाई देने लगे। परशुराम-जी ने उछलकर उसके सिर को भी धड से पृथक् कर दिया। सिर के कटते ही उसका धड चक्कर काटता हुआ उसी प्रकार गिर गया, जिस प्रकार हिमालय के पख इन्द्र द्वारा काट लिये जाने पर वह गिर पडा था।

राजा के दश सहस्र पुत्र थे। उन्होने देखा कि सहस्र भुजाओं वाले हमारे पिता को ही इस मुनि ने मार डाला, तब हम सब तो इसके सामने भिनगे के समान हैं, हमको तो यह एक ही प्रहार में यमपुर पहुँचा देगा। अत अब इसके सम्मुख ठहरना उचित नहीं। यह सोचकर वे सब के सब समरभूमि छोडकर प्राणों को लेकर भाग गये।

कुछ देर तक परशुराम युद्ध-भूमि मे वीर रस के समान खडे रहे, किन्तु अब उनके सम्मुख कोई आने वाला ही नहीं था। दूर खडी हुई कामधेनु परशुरामजी को चकित दृष्टि से देख रही थी। परशुरामजी उसके समीप पहुँचे। इतनी दूर से वलपूर्वक लाने से तथा भयकर युद्ध देखने से वछडा सहित कामधेनु

भयभीत सी हो रही थी। क्रूर राजसेवकों ने निर्दयतापूर्वक उस पर डंडे चलाये थे, इस कारण वह पीड़ित भी हो रही थी। परशुरामजी ने उसे पुचकारा, प्यार किया, उसके शरीर पर हाथ फेरा, और उसे स्नेह पूर्वक पकड़कर अपने आश्रम की ओर चले।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! असत् पुरुषों के अपमान करने का यही फल होता है। सहस्रार्जुन ने तत्क्षण अपने किये का फल पा लिया। कुछ पाप पुण्य तो ऐसे होते हैं, जिनका फल दूसरे जन्मों में भोगना पड़ता है, किन्तु अत्युग्र पुण्य पापों का फल इसी जन्म में, चाहे तीन वर्ष में, तीन महीने में, तीन पक्ष में तीन दिन में या तीन प्रहर में, तत्काल मिल जाता है। सहस्रार्जुन को तीन प्रहर में ही अपने महान पाप का फल मिल गया।"

छप्पय

भयो युद्ध घनघोर वीर हैहय-पति रथ चढ़ि।
आयो इत तैं परशुराम नृप लखि आये बढ़ि॥
तीक्ष्ण परश तैं भुजा काटि अर्जुन की दीन्हीं।
सुत सैनिक सब भगे राम गर्जन पुनि कीन्हीं॥
नृप-सिर धड़तैं पृथक करि, कामधेनु लै चलि दये।
कही कथा पितु सन सकल, सुनि मुनि हर्षित नहिं भये॥

पिता की आज्ञा से परशुरामजी द्वारा प्रायश्चित्त

(७४१)

राम राम महाबाहो भवान् पापमकारषीत् ॥
अवधीन्नरदेवं यत् सर्वदेवमयं वृथा ।
वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः ।
यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमगात् पदम् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १५ अ० ३८-३९ श्लो०)

छप्पय

बोले मुनि जमदग्नि—'राम ! भल कियो न कारज ।
विप्रनि भूषण क्षमा जिही मर्यादा आरज ॥
अरे, कहा जिह करयो विप्र ह्वै नरपति मार्यो ।
कर्यो कर्म अति क्रूर कलंकित कुल करि डार्यो ॥
नृप-वध द्विज-वध तैं अधिक, प्रायश्चित जाको करहु ।
हरि चित्त धरि कीर्तनि करत, पावन तीर्थनि महँ फिरहु ॥

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! परशुरामजी जब सहस्रार्जुन को मारकर आये, तब उनके पिता भगवान् जमदग्नि ने कहा—"हे राम ! हे राम ! हे महाबाहो ? भैया, तुमने यह बडा भारी पाप किया, जो वृथा ही राजा का वध किया । राजा सर्वदेवमय होता है । देखो भैया ? हम

जिसके हाथ में क्षमा-रूपी शस्त्र है, उसका शत्रु कभी कुछ बिगाड़ ही नहीं सकते। क्षमा ही क्षमाशीलों का सर्वोत्तम अमोघ अस्त्र है। जो अपराध को क्षमा न करके उसका बदला लेते हैं, वे अपराध की शृङ्खला को और सुदृढ़ बनाते हैं। हिंसा से हिंसा ही बढ़ती है। इसी से, हिंसा से क्षमा को श्रेष्ठ कहा है। किन्तु क्षमा सबलों का भूषण है, निर्बलों के लिये तो वह दूषण है। जैसे निर्बल आदमी शस्त्र चला नहीं सकता, उसके शस्त्र से शत्रु ही लाभ उठाते हैं, उसी प्रकार निर्बल क्षमा नहीं कर सकता। उसकी क्षमा कायरता है। उससे दूसरे लाभ उठावेंगे और उसे मूर्ख बनाकर हँसेंगे, शांत-स्वभाव सर्व-समर्थ; ज्ञानी ब्राह्मण ही क्षमा का आश्रय ले सकते हैं। युद्धोपजीवी क्षत्रिय को तो 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीति का अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर है। यदि क्षमा कोई कर सके, तब तो सर्वश्रेष्ठ है ही।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! सहस्रार्जुन के मर जाने पर उसके सब पुत्र भाग गये। परशुरामजी सवत्स अपनी गौ को लेकर आश्रम पर आये आकर उन्होंने पिता के पाद-पद्मों में प्रणाम किया। अपनी गौ को देखकर मुनि का मुख-मंडल खिल उठा। वे बार-बार उसके ऊपर हाथ फेरने लगे। उन्होंने उल्लास के साथ पूछा—"बेटा! तुम राजा से गौ किस प्रकार लाये?"

परशुरामजी ने कहा—"पिताजी! युद्ध करके मैं गौ को लाया हूँ।"

ब्राह्मणों का क्षमा ही भूषण है, क्षमा के कारण ही हम संसार में पूज-नीय बने हैं। और की बात ही क्या, लोकगुरु ब्रह्माजी भी क्षमा के कारण ही ब्रह्मपद पर प्रतिष्ठित हुए हैं।"

जमदग्नि ने कहा—"छिः-छिः, ब्राह्मण होकर तुमने युद्ध किया ! राजा के बहुत सैनिक मारे गये होंगे ?"

परशुरामजी ने कहा—"राजा के सैनिक भी मारे गये और राजा भी मारे गये।"

चौंककर मुनि ने कहा—"हैं ! क्या महाराज कार्तवीर्य सहस्रार्जुन का भी तूने वध कर डाला ? वह तो पृथ्वी मे अद्वितीय शूरवीर था। उसे तुमने मारकर बड़ा पाप किया ! ऐसा करना तुम्हें उचित नहीं था।"

परशुराम ने कहा—"पिताजी ! उसे क्या अधिकार था, कि वह आश्रम में आकर बलपूर्वक यज्ञीय हमारी धेनु को हर ले जाय। उसने यह दस्युओं डाकुओं सा व्यवहार किया। वह आततायी था। आततायी तो वध के ही योग्य होता है। उसे दंड देना पाप नहीं, पुण्य है।"

जमदग्नि मुनि ने कहा—"यह सत्य है, कि उसने आततायीपन किया। किन्तु बेटा, दंड देने का अधिकार सभी को तो है नहीं। हम ब्राह्मणों का अस्त्र तो क्षमा ही है। उपकारी के प्रति तो सभी प्रेम प्रदर्शित करते हैं। अपकारी के अपराध की ओर भी ध्यान न देना ही क्षमा है। हम संसार मे सर्वश्रेष्ठ और विश्ववन्द्य क्यों माने जाते हैं ? इसीलिये कि हमलोग अपकारी को दंड नहीं देते। ब्राह्मण बहुत क्रोध करेगा, तो वाणी से शाप दे देगा, वह अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्ध नहीं करेगा। देखो, लोकपितामह ब्रह्माजी को यक्ष खाने को दौड़े और उनकी ही बनाई सृष्टि के जीवो ने उसके साथ बहुत अनुचित बर्ताव किया, किन्तु उन सब को उन्होंने क्षमा कर दिया। क्षमा के कारण ही वे लोकपितामह हुए और ब्रह्मत्व प्राप्त किया। ब्रह्म सम्पत्ति क्षमा के

कारण ही सूर्य के समान प्रकाशित होती है। तुम्हें राजा को मारना नहीं चाहिये था।"

परशुरामजी ने कहा—"पिताजी! मैं अपने अपमान करने वाले को क्षमा कर सकता हूँ, किन्तु आप के अपमान करने वाले को कभी नहीं। आप के मुख को म्लान देखने की मुझमे शक्ति नहीं।"

जमदग्निजी ने स्नेहपूर्वक कहा—"यह तो मैं समझता हूँ, तुम्हारा मुझमे अत्यन्त अनुराग है, किन्तु एक धर्मात्मा राजा के साथ ऐसा व्यवहार उचित नहीं।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यदि देखा जाय, तो इसमें मुनि का भी कुछ दोप है। राजा ने जब कामधेनु को माँगा ही था, तब वे उसे दे देते। गौ के पीछे मुनि ने लोभ क्यों किया? उसी का परिणाम यह हुआ, कि इतनी मारकाट, और लड़ाई हुई।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुनिवर आप अग्निहोत्री मुनि होकर भी ऐसी बात कहते हैं। यज्ञ की गौ भला किसी को दी जा सकती है? लौकिक वस्तुऐं दी जा सकती हैं। उनके प्रति लोभ होना दोप है। कोई अपनी पूजा के श्रीविग्रह को माँगे, शिखासूत्र को माँगे, तो ये वस्तुऐं तो दी नहीं जा सकतीं। उस गौ से ही उनके समस्त लौकिक पारलौकिक कर्म होते थे। उसे दे देना तो अपने धर्म कर्म को देना था। मुनि की इतनी शांति तो देखिये। वे सर्व समर्थ थे, चाहते तो राजा को शाप देकर वहीं भस्म कर सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। बलपूर्वक राजा गौ को ले गया, तो उसे ले जाने दिया। क्रोध में भरकर परशुरामजी ने उसे मार डाला, तो उनके कार्य की भी उन्होंने निन्दा की और उन्हें बहुत डाँटा फटकारा।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी! सत्य ही मुनि की क्षमा तो अपूर्व थी। अच्छा, तो फिर परशुरामजी से उन्होंने क्या कहा ?"

सूतजी बोले—"महाराज, कहा क्या ? उन्हें क्षमा का महत्व समझाया और बल देकर कहा—"तुमने सार्वभौम राजा का वध किया है। यह ब्रह्म हत्या से भी बढ़कर पाप है। तुम्हें इसका प्रायश्चित्त करना चाहिये।"

परशुरामजी के मन में यह बात बैठती ही नहीं थी, क्योंकि उनकी नस-नस में तो क्षात्र भाव व्याप्त था। सहस्रार्जुन के वध को पाप न समझकर परम पुण्य ही समझते थे। किन्तु अपने पूजनीय पिता के सम्मुख उन्होंने वाद विवाद करना उचित नहीं समझा। वे उनका अत्यधिक आदर करते थे। अतः वे बोले—"पिताजी! मेरी दृष्टि में तो यह कोई पाप है नहीं। फिर भी आप श्रेष्ठ हैं, मेरे पूजनीय और वन्दनीय हैं, यदि आप इसे पाप समझते हैं, तो इसके प्रायश्चित स्वरूप आप जो भी मुझे आज्ञा करें, वही मैं करूँ ?"

जमदग्निजी ने कहा—"भैया! यह पाप तो है ही तुम्हें इसका प्रायश्चित अवश्य करना चाहिये। इसका यही सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है कि भगवान् के सुमधुर नामों का कीर्तन करते हुए उनकी मन मोहिनी मूर्ति को मन में धारण करके, तुम समस्त पावन तीर्थों की यात्रा करो। भगवान् के नाम कीर्तन करने, उनका स्मरण करने तथा पुण्य तीर्थों के श्रद्धापूर्वक सेवक करने से तुम्हारे सभी पाप कट जायँगे। तुम विशुद्ध बन जाओगे।"

परशुरामजी तो विशुद्ध थे ही, किन्तु पिता की आज्ञा का महत्व प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की। उनसे आज्ञा लेकर तीर्थ यात्रा की समस्त विधि पूछकर

तथा माता-पिता की परिक्रमा करके परशुरामजी तीर्थ यात्रा के लिये चल दिये। पिता ने जिन-जिन पुण्य तीर्थों की आज्ञा दी थी, उन तीर्थों मे जाकर, पवित्र-पवित्र नदियो मे स्नान करके, पृथ्वी की प्रदक्षिणा करके, एक वर्ष में वे अपने आश्रम में लौट आये। आकर उन्होने माता पिता के चरणों मे प्रणाम किया। जमदग्नि मुनि भी पुत्र को निष्पाप समझकर प्रमुदित हुए।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! परशुरामजी सहस्रार्जुन को मारकर उससे कामधेनु लेकर तथा पिता की आज्ञा से तीर्थ-यात्रा करके सुखपूर्वक उनके आश्रम मे रहने लगे। इधर सहस्रार्जुन के जो पुत्र परशुरामजी के पराक्रम से पराभूत होकर रण से भाग गये थे, उन्हे अपने पिता के निर्मम वध का स्मरण बना ही रहा। वे परशुरामजी से बदला लेने को घात में सदा लगे रहते थे। उन्हे कभी चैन नहीं पडता था।"

छप्पय

पितु-गौरव कूँ मानि हरषि आयसु सिर धारी।
तीर्थान महँ अघ हरन फिरहि द्विजवर अघहारी॥
सम्वत्सर महँ सकल अवनि परदच्छिन कीन्हीं।
पुनि पितु आये निकट निरखि आशिष बहु दीन्हीं॥
इत पितु-आज्ञा ते परशु-राम यज्ञ-जप-तप करत।
उत हैहय क्षत्रिय अधम, बदलौ लैबे कूँ फिरत॥

परशुरामजी के पिता का निर्मम वध

[७४२]

एकदाऽऽश्रमतो रामे सभ्रातरि वन गते।
वैरं सिसाधयिषवो लब्धच्छिद्रा उपागमन् ॥*

(श्री० भा० ६ स्क० १६ अ० १० श्लो०)

छप्पय

परशु पराक्रम पराभूत पापी पामर खल।
क्षत्रि धर्म तजि फिरहिँ, करहिँ नहिँ रण सब निर्बल ॥
एक दिवस सँग बन्धु गये वन परशुराम जब।
आये छिपि के सहसबाहु-सुत अस्त्र लिये सब ॥
विष्णु ध्यान लवलीन मुनि, निरखि भये हर्षित सकल।
प्रतिहिंसा हिय महँ जगी, वधहिं तऊधम करहिं खल ॥

प्रतिशोध की भावना से प्रतिहिंसा जाग्रती है, प्रतिहिंसा पुनः प्रतिहिंसा को उत्पन्न करती है। किन्तु किया क्या जाय! प्राणी अपने अपमान को सहज ही हनन नहीं कर सकता। अपमान को या तो सर्वथा जड पशु ही सहन कर सकता है या पूर्ण ब्रह्मज्ञानी

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! एक दिन परशुरामजी सब भाइयों के सहित वन को गये हुए थे। उसी समय सहस्रार्जुन के पुत्र अवसर पाकर अपना वैर चुकाने के लिये वहाँ आये।'

हों। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि पशुओं ने भी आदमियों से बदला लिया है। बदला लेने की भावना स्वाभाविक न हो, तो फिर पुनर्जन्म ही न हो। मनुष्य पुत्र बनकर, सगा-सम्बन्धी बनकर, दूसरे जन्म के कार्यों का बदला लेता है। बड़े-बड़े ऋषि मुनियो तक मे ऐसे भाव देखे गये हैं। नीतिकारों का वचन भी है, जो पुत्र पिता के उपकार या अपकार का बदला नहीं चुकाता, वह सत्पुत्र नहीं है, किन्तु परमार्थ में बदला लेने की भावना अत्यन्त हेय मानी गई है। भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं। उनका कोई न तो शत्रु है, न मित्र, उनके लिये सब समान हैं। अतः वे जो भी करते हैं, जगत के हित के निमित्त ही, बदला लेने की भावना से नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तीर्थ-यात्रा करके श्री परशुराम अपने आश्रम पर लौट आये। वे आकर जप-तप, अग्निहोत्र आदि ब्राह्मणोचित कृत्य करने लगे। वे सहस्रार्जुन को मारकर उस बात को भूल ही गये, कि उनसे हमारी अब कोई शत्रुता रह गई है। उन्होंने सोचा—"सहस्रार्जुन ने आततायीपन का कार्य किया, उसे उसका फल तत्काल मिल ही गया। उसके पुत्र रण छोड़कर भाग ही गये। फिर उनसे युद्ध ही क्या करना? इस प्रकार सब झगड़ा समाप्त हो गया। किन्तु परशुरामजी के पराक्रम से पराभूत हुए वे सहस्रार्जुन के पापी पुत्र रात्रि-दिन जलते रहते थे। वे सदा यही सोचते रहते थे, कि परशुराम से अपने पिता के वध का बदला कैसे लें। परशुरामजी के तेज, प्रभाव, ओज, बल, वीर्य, पराक्रम, युद्ध-कौशल, आदि गुणों से वे पूर्णतया परिचित थे। अतः समर में सम्मुख युद्ध करने का साहस तो उन में था नहीं। वे छिपकर ही प्रति-हिंसात्मक घात करना चाहते थे और इसके लिये वे उपयुक्त

अवसर की ताक मे सदा लगे रहते थे। उनके गुप्तचर सदा यही देखते रहते, कि कब ऐसा अवसर हो, जब हम जाकर, जैसे पशुराम ने हमारे पिता का वध किया है, वैसे ही, हम भी उन के पिता का वध कर सकें। किन्तु ऐसा अवसर उन्हें मिलता नहीं था।

एक दिन परशुरामजी अपने भाइयो को साथ लेकर किसी काम से वन में गये। यह समाचार जब सहस्रार्जुन के पुत्रों को मिला, तब वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। तुरन्त ही वे अस्त्र-शस्त्र लेकर भगवान् जमदग्नि के आश्रम पर चढ आये। उन्होंने देखा, मुनि पत्नी रेणुका तो कुटिया के भीतर कुछ कार्य कर रही हैं, मुनिवर जमदग्नि अग्निशाला मे आँखें बन्द किये समाधि में परात्पर प्रभु का ध्यान कर रहे हैं। इसी अवसर को उन आततायियो ने उत्तम समझा। उनके साथ और भी बहुत से दुष्ट राजपुत्र थे। सहस्रार्जुन के एक पुत्रने पीछे से जाकर महामुनि जमदग्नि का सिर धड से काट लिया और वह उसे लेकर चलते बने। बहुतों ने आश्रम के वृक्ष काट डाले, बहुतों ने पौधे उखाड फेंके। मार-काट की ध्वनि सुनकर रेणुका कुटी से बाहर आई। वे अपने पति के सिरहीन धड को देखकर हाय-हाय करके रोने चिल्लाने लगीं और बार-बार छाती पीटने लगीं। रेणुकाजी को रोते देखकर वे सब क्रूरकर्मा नीच क्षत्रिय कायरो की भाँति मुनि का सिर लेकर भाग गय।

माता रेणुका के दुःख का वारा-पार नहीं था। उन्हें ससार बिलकुल सूना दिखाई देता था। पति के सिरहीन मृतक धड़ को निहारकर उनका हृदय फट रहा था। वे पूरी शक्ति लगाकर रोती हुई—"हा राम! हा राम!" कहकर चिल्ला रही थीं, छाती पीट रही थीं।

परशुरामजी ने दूर से ही माता का दुःख-शोक-पूर्ण करुण-क्रन्दन सुना। वे शंकित तो पहले से ही थे। आज माता का ऐसा करुणापूर्ण विलाप सुनकर उनका हृदय धक-धक करने लगा। वे समझ गये, "आश्रम मे कोई भयंकर दुर्घटना हो गई है। हो-न हो, सहस्रार्जुन के दुष्ट पुत्रों ने फिर चढाई कर दी है। वे फिर कामधेनु को तो नहीं ले गये ?" यह सोचते ही वे तुरन्त बड़े वेग से आश्रम की ओर दौड़े। आश्रम पर आकर जो कुछ उन्होंने देखा, उसे देखकर तो उनका धैर्य छूट गया। अग्निशाला के सम्मुख कामधेनु बँधी है, वह बुरी तरह डकरा रही है। माता धूल में लोटी हुई छाती कूट रही हैं और "हा राम ! हा राम !" कहकर विलाप कर रही हैं ! पिता का सिरविहीन धड़ कटा पडा है ! आश्रम के सभी वृक्ष कटे पड़े हैं ! पौधे इधर-उधर उखड़े पड़े मुरझा रहे हैं।

परशुरामजी अपने पिता को प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। वे पिता के लिये सब कुछ करके को तत्पर थे। पिता के कहने से उन्होंने अपनी जननी तक को मार डाला। पिता ही उनके इष्ट थे, गुरु थे, देवता थे। उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी कि मेरे पूज्य पिता का इस प्रकार कोई वध कर सकेगा। वे पिता के मृत शरीर से लिपटकर बालकों की भाँति फूट फूट कर रोने लगे। वियोग-जन्य दुःख और क्रोध के कारण उनकी वाणी स्पष्ट नहीं निकलती थी। वे दीनता और शोक के वेग से विमोहित होकर रोते-रोते कहने लगे—"हा पिताजी ! आप हमें छोड़कर कहाँ चले गये ? हाय ! आप तो सदा धर्म-कर्म में निरत रहते थे ! आपको ऐसी अप-मृत्यु क्यों हुई ? आप तो सदा विष्णु-ध्यान में निमग्न रहते थे, कभी किसी का मन से भी अनिष्ट नहीं सोचते थे। आपको किस दुष्ट ने काट डाला ?"

परशुरामजी के करुण विलाप को सुनकर माता रेणुका को चेत हुआ। वे अपने पुत्र को रोते देखकर और भी अधिक वेग से रोने लगीं। उनका रुदन दिशा-उपदिशाओं में व्याप्त हो गया। माता को रोते देखकर परशुरामजी ने क्रोध भरे स्वर में पूछा—"माँ! मेरे पूज्य पिता का वध किस दुष्ट ने किया है ?"

हिचकियाँ भरते हुए माता ने रुक-रुककर कहा—"बेटा! सहस्रार्जुन के सुत आये थे, उनके साथ और भी क्रूरकर्मा नाममात्र के क्षत्रिय थे। उन पापियों ने ही यह सब कृत्य किया है। तेरे पिता तो ध्यान-मग्न थे, मैं भीतर थी। इसी बीच आकर दुष्टों ने यह कृत्य कर डाला।" इतना कहकर माता फूट-फूट कर रोने लगी।

असहनशीलता के कारण जिनके ओंठ फड़क रहे हैं, नेत्र क्रोध के कारण अंगारे के समान जल रहे हैं, उन परशुराम ने माता को धैर्य बँधाते हुए कहा—"माँ! तुम चिन्ता मत करो। ये क्षत्रिय बड़े दुष्ट हो गये हैं, इन्हे अत्यधिक राज-मद हो गया है। मैं प्रथम इस पृथ्वी को क्षत्रियहीन कर दूँगा, तब अपने पिता को जीवित करूँगा। माँ! मैं पिता का बदला बिना लिये बैठ नहीं सकता। मुझे कोई समझा नहीं सकता, रोक नहीं सकता। भाइयों की सहायता से पिता की देह को तुम सुरक्षित रखना।" इतना कहकर परशुरामजी ने अपना तीक्ष्ण धारवाला परशु उठाया और सीधे माहिष्मतीपुरी की ओर चल दिये।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! परशुरामजी के फरसे की धारा कभी कुण्ठित क्यों नहीं होती! जब देखो, तब वे फरसे को ही लेकर चलते और उसी से असख्य वीरों का वध करते हैं।"

सूतजी बोले—"महाराज! यह साधारण परशु नहीं था।

शिवजी के महातेज से इसका निर्माण हुआ था। जिससे भगवान् का सुदर्शनचक्र, इन्द्र का वज्र बना था, उसी तेज से यह फरसा भी बना था। पैदा होते ही परशुरामजी ने कैलाश पर्वत पर जाकर शिवजी की आराधना की। इनकी आराधना से सन्तुष्ट होकर आशुतोष भगवान् भूतनाथ प्रसन्न हुए और इनसे वरदान माँगने को कहा। इन्होंने कहा—"प्रभो ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे कोई ऐसा अमोघ अस्त्र दीजिये, जो कभी व्यर्थ न हो और उसकी धार कभी कुण्ठित न हो।"

यह सुनकर शिवजी ने इन्हें यह दिव्य फरसा दिया तथा और भी अनेक अस्त्र शस्त्र दिये। उन सब अस्त्र-शस्त्रों में इनका प्रधान अस्त्र यह परशु ही था। इसी से इन्होंने २१ वार पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों का संहार किया।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! माहिष्मती नगरी में जाकर परशुरामजी ने क्या किया ? उन्होंने किन किन क्षत्रियों का संहार किया। आप कहते हैं, उन्होंने इक्कीस वार सम्पूर्ण क्षत्रियों का नाश किया। जब पहिले ही वे सब नष्ट हो गये, तो फिर बीस वार के लिये और क्षत्रिय कहाँ से आ गये ? कृपा करके परशुरामजी के इन सभी प्रसंगों को हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! इस हत्याकाड का विस्तार क्यों पूछते हैं ? कथा प्रसङ्ग को मिलाने के लिये मैं इस वीभत्स काड का अत्यन्त ही संक्षेप में वर्णन करूँगा। आप प्रेम से इसे सुनें।"

छप्पय

लखि आश्रम सब शून्य शीघ्र सिर मुनि को काट्यो।
मृतक लख्यो पति-देह रेणुका को हिय फाट्यो॥
रोवै कुररी सरिस, पुकारै राम, धुनै सिर।
सुनि जननी को रुदन राम तब आये सत्वर॥
जनक मृतक तनु निरखि अति, परशराम रोवन लगे।
गये तात तजि हमहि कहँ, क्रूर काल ने हम ठगे॥

परशुरामजी द्वारा २१ बार क्षत्रियों का विनाश

(७४३)

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
समन्तपञ्चके चक्रे शोणितोदान् ह्रदान् नृप ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १६ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

पितु-तनु बन्धुनि सौंपि चले क्षत्रिनि संहारन ।
पहुँचे पुर गेह तुरत परशु लै लागे मारन ॥
हैहय कुल संहार कर्यो पुनि जे ई पाये ।
क्षत्रिय सबई मारि मारि यम सदन पठाये ॥
युवक, वृद्ध, शिशु, उदर गेह, लखहिं जहाँ क्षत्रिय तनय ।
तुरत पठावें यम सदन, सुनहिं नहीं अनुनय विनय ॥

यदि अंग सड़ जाता है और उसमें विष व्याप्त हो जाता है, तो बुद्धिमान अनुभवी चिकित्सक उस सड़े हुए अंग का लोभ नहीं करता। शेष अंगों की रक्षा के लिये वह जड़ मूल से काट देता

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पिता के वध से क्रुद्ध हुए परशुरामजी ने २१ बार इस पृथ्वी को क्षत्रिय-शून्य कर दिया और समन्तपञ्चक क्षेत्र (कुरुक्षेत्र) में रुधिर-रूप जल के ९ कुण्ड बनाये।"

है । जिस पौधे में कोई रोग हो जाता है, माली उसकी बड़ी बड़ी डालियों को काट देता है, जिससे दूसरे नये अच्छे कल्ले निकलें। जब कोई समाज अत्यन्त दूषित हो जाता है, भगवान् किसी न किसी रूप में अवतरित होकर उसका संहार कर देते हैं और समाज को सकट से बचाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! परशुरामजी को जब पता चला कि मेरे पिता का वध केवल हैहयवंशी क्षत्रियों ने ही नहीं किया है, अपितु इसमें बहुत से क्रूरकर्मा क्षत्रियों का भी भीषण षड्यन्त्र है, तब तो उन्होंने हाथ में कुशा लेकर पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों के संहार की प्रतिज्ञा की। वे अपने तीक्ष्ण धारवाले परशु को उठाकर बड़े वेग से माहिष्मतीपुरी की ओर चले। उन के चलने से पृथ्वी डगमग-डगमग कर रही थी। रोष के कारण वे दहाड़ते हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानों साक्षात् रुद्र संसार का संहार करने के लिये कुपित होकर कहीं जा रहे हैं। माहिष्मती पुरी में पहुँचकर उन्होंने सहस्रार्जुन के सहस्रों पुत्रों को घेर लिया और परशु से उनके सिरों को काटने लगे। सिर काट-काटकर उन्होंने उनका एक पर्वत ही खड़ा कर दिया। उन्होंने ऐसा व्यूह बना लिया था कि कोई उसमें से निकल ही नहीं सकता था। सहस्र पुत्रों में से जैसे तैसे दुबक छिपकर जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और ऊर्जित—ये पाँच पुत्र भाग गये। उन्हें पृथ्वी ने दया करके बचा लिया अर्थात् वे कहीं एकान्त में कन्दराओं में जाकर छिप गये। फिर उन्होंने समस्त क्षत्रियों का वध करना आरम्भ किया। वे जहाँ भी जिस क्षत्रिय को देखते, उसे वहीं मार डालते, जिस नगरी में घुस जाते, वहीं के राजा को यम सदन पहुँचा देते। इस प्रकार उन्होंने समस्त पृथ्वी को क्षत्रिय-शून्य कर दिया। जब पृथ्वी पर कोई राजा नहीं रहा, तब उन्होंने

अपने पिता के सिर को धड़ में जोड़कर उनका शास्त्रीय विधि से संस्कार किया। वे दिव्य शरीर से सप्तर्षि-मण्डल मे अद्यावधि विद्यमान हैं।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब एक बार उन्होंने पृथ्वी को क्षत्रिय-शून्य कर दिया, तब फिर पृथ्वी पर इतने क्षत्रिय कहाँ से आ गये? फिर जो एक बार हो गया, सो हो गया। बार-बार क्षत्रियों का संहार क्यों किया?"

सूतजी बोले—"महाराज अब इसका यह साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति क्या उत्तर दे सकते हैं? बात यह है कि पुरुष जो काम करना भी नहीं चाहता, वह उसे दूसरों के भड़काने से, लाग-डाट से विवश होकर करना पड़ता हैं। परशुरामजी तो भगवान् के अवतार थे। वे जानते थे कि जब तक क्षत्रियों की उद्दण्डता दूर न की जायगी, तब तक पृथ्वी से अनाचार दूर न होगा। इसलिये पिता का वध तो निमित्त मात्र था। जो संपूर्ण संसार की रक्षा करते हैं, वे क्या अपने पिता की रक्षा नहीं कर सकते थे? उनकी इच्छा के बिना इनके पिता को कौन मार सकता था? उन्हें लीला करनी थी, इसलिये उन्होंने यह सब स्वांग रचा था। पहले उन्होंने मूर्वाभिषिक्त राजाओं का ही वध किया था। बच्चों और बूढ़ों से वे बोले भी नहीं थे। राजाओं को मार कर वे फिर तपस्या में लग गये। कुछ दिनों में क्षत्रियों के बालक बड़े होकर फिर राजा बन गये। अब वे अपने-अपने पिताओं के वध का स्मरण करके अत्यधिक उद्दण्डता करने लगे। परशुरामजी के प्रति सर्वत्र घृणा के भाव फैलाने लगे, प्रजा को पीड़ा देने लगे, और ब्राह्मणों का बहिष्कार करने लगे। यहाँ तक कि एक दिन क्षत्रियों की भरी सभा में राजा परावस ने परशुरामजी के मुख पर ही उन्हें चिढ़ाते हुए कह दिया—

"परशुराम ! तुम हमेशा इस फरसे को बाँधे हुए इधर से उधर फिरते हो और बड़े गर्व से कहते हो कि मैंने क्षत्रियो का विनाश कर दिया। जिस यज्ञ में राजा ययाति का स्वर्ग से अध.पात हुआ था और वे अपनी लडकी के लडके प्रतर्दनादि के यज्ञ में गिरे थे, वे प्रतर्दनादि कौन थे ? क्या वे क्षत्रिय वीर्य से उत्पन्न नहीं हुए थे ? तुम उनके सामने उसी प्रकार पर्वत का गुहा रूप बिल में छिप गये, जिस प्रकार चूहा बिल्ली के भय छिप जाता है !"

इस बात को सुनते ही परशुरामजी के क्रोधानल में मानो घृत की आहुति पड गई। वे अपने को सभाल न सके। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अब वे पृथ्वी पर एक भी क्षत्रिय न छोड़ेंगें

यह कहकर वे अपने फरसे को उठाकर पुनः क्षत्रिय संहार के लिये निकल पड़े। इस बार उन्होंने बालकों को भी मारना आरम्भ कर दिया। उन्होंने सोचा—"न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। ये बच्चे ही न रहेंगे, तो राजा कैसे होंगे?" परशुरामजी का प्रभाव उस समय इतना अधिक था, कि किसी भी क्षत्रिय का उनके सम्मुख आने का साहस नहीं होता था। क्षत्रिय उनके नाम से थर-थर काँपने लगे। अब तो उन्हें क्षत्रियों से चिढ़ हो गई। यहाँ तक कि वे गोद तथा गर्भ के बच्चों का भी संहार करने लगे।

एक दिन वे क्षत्रियों को मारते हुए भगवती भागीरथी के तट पर पहुँचे। पंडों ने सोचा—"आजकल परशुरामजी का ही बोलबाला है। इनसे कुछ दक्षिणा लेनी चाहिये।" यह सोचकर वे उनके सम्मुख आकर बोले—"भगवन्! आप भगवती भागीरथी में स्नान करें।"

परशुरामजी ने पूछा—"इस गंगा को स्वर्ग से कौन लाया था?"

गंगावासी ब्राह्मणों ने कहा—"प्रभो! इन्हें महाराज भगीरथ लाये थे।"

क्रोध के स्वर में परशुरामजी ने पूछा—"भगीरथ कौन था?"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज! वे तो सूर्यवंशी क्षत्रिय थे।"

डाँटकर परशुरामजी ने कहा—"हम क्षत्रिय की लाई हुई गंगा में स्नान न करेंगे। हम स्वयं अपनी गंगा लावेंगे।" यह कह कर वे हिमालय की ओर चल दिये। अब उन्हें नई गंगा लाने की धुन सवार हुई। हिमालय और देवता डर गये। उन्होंने तुरत एक गंगा प्रकट कर दी। उन्हें लेकर परशुरामजी चले आये। वही पृथ्वी पर अब तक रामगंगा के नाम से विख्यात हैं। राम गंगा को लाकर परशुरामजी ने उसी में स्नान किया। इस बीच

जितने क्षत्रिय हो गये थे, उन सब का पुनः उन्होंने संहार किया। इस प्रकार इक्कीस बार में उन्होंने पृथ्वी पर एक भी क्षत्रिय नहीं छोड़ा। वे क्षत्रियों को पकड़ पकड़कर इकट्ठे कर लेते और कुरुक्षेत्र में ले जाकर उनका वध करते। उनके रक्त से ९ कुंड भर गये। उन रक्त कुंडों में ही उन्होंने अपने पितरों का तर्पण किया। तब पितरों ने प्रसन्न होकर कहा—"पुत्र! हम तुम्हारी पितृ-भक्ति से तो अत्यन्त प्रसन्न हैं, किन्तु तुम इतना क्रूर कर्म कर रहे हो, इससे हमें ग्लानि हो रही है। ब्राह्मण के लिये इतनी क्रूरता उचित नहीं। अब हुआ सो हुआ! अब तुम इस मारकाट से उपरत हो जाओ। अब हिंसा करना छोड़ दो।"

परशुरामजी का कार्यकाल भी समाप्त हो चुका था। सब का समय निश्चित होता है। समय से अधिक कोई कुछ कर नहीं सकता। इसलिये परशुरामजी ने पितरों की आज्ञा शिरोधार्य कर ली और उन्होंने क्षत्रियों का वध करना बन्द कर दिया। परशुरामजी ने अपने जाने तो किसी एक भी क्षत्रिय को शेष नहीं छोड़ा था, फिर भी किसी वस्तु का कभी बीज नाश नहीं होता। बहुत से क्षत्रिय गुप्त रूप से पृथ्वी पर रह ही गये। सब वंशों की स्त्रियों ने अपने बीज को बचाने के लिये किसी प्रकार परशुरामजी से अपने पुत्रों की रक्षा कर ली।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! परशुरामजी ने २१ ही बार क्षत्रियों का संहार क्यों किया?"

सूतजी बोले—"अब महाराज! भगवान् की बात तो भगवान् ही जानें। सुनते हैं, जब जमदग्निजी के सिर को काटकर कार्तवीर्य अर्जुन के पुत्र ले गये थे, तब उनकी माता रेणुका देवी ने २१ बार ही छाती पीट-पीटकर 'हा राम, हा राम' ये शब्द कहे थे। उस समय परशुरामजी ने प्रतिज्ञा की थी, 'जितनी बार

मेरी माता ने छाती पीटी है, उतनी ही बार मैं पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों का संहार करूँगा।" संयोग की बात है, इक्कीस बार में ही सब क्षत्रिय समाप्त हो गये और परशुरामजी के पितरों ने उन्हें क्षत्रिय वध से रोक दिया। उस समय सम्पूर्ण पृथ्वी परशुरामजी के अधीन थी। वे ही उसके एकमात्र अधीश्वर थे। उनके सामने बोलने का साहस किसी को नहीं था। किन्तु वे सम्राट बनना नहीं चाहते थे। उनका धन तो तप ही था। अतः वे अब सम्पूर्ण पृथ्वी दान करने की बात सोचने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! परशुरामजी को इन ब्राह्मणों पर बड़ी दया आई। सोचने लगे—"ये लोग सदा इन राजाओं के आश्रित रहते हैं। एक-एक कण चुन-चुनकर बड़े कष्ट से जीवन-निर्वाह करते हैं। इसलिये अब इन्हें राजा बना देना चाहिये।" किन्तु भाग्य को कौन मेट सकता है? ब्राह्मणों के भाग्य में तो दरिद्रता ही लिखी है? विष्णु भगवान् ने अपनी बड़ी साली दरिद्रता का विवाह अपनी बहू रानी लक्ष्मी जी के कहने से ब्राह्मण के ही साथ कर दिया है। फिर भला ब्राह्मण को परशुरामजी राजा कैसे बना सकते थे? जिसका जो काम, उसी को वह शोभा देता है।"

छप्पय

करयो क्रूर अति काज कृपा कीन्हीं नहिँ तिन पै।
नहीं बचे ते कोप काल को होवै जिन पै॥
छिद्र राजगिनि भई जहाँ देखें तहँ मारें।
पकरें बलि पशु-सरिस साथ सब कूँ संहारें॥
रक्त कुण्ड नौ भर दिये, सन्मुख नहिँ कोऊ लरयो।
पितरनि को गया रक्त तैं, परशुराम तर्पन करयो॥

—:ॐ:—

प्रशान्त परशुरामजी

(७४४)

आस्तेऽद्यापि महेन्द्राद्रौ न्यस्तदण्डः प्रशान्तधीः ।
उपगीयमानचरितः सिद्धगन्धर्वचारणैः ॥
एवं भृगुषु विश्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
अवतीर्य परं भारं भुवोऽहन् बहुशो नृपान् ॥*
(श्री भा० ९ स्क० १६ अ० २६ २७ श्लोक)

छप्पय

पुनि पितु सिर धड़ माहिँ जोरि मन्त्रनि तें दीन्हों ।
सर्व-देव मय यज्ञपुरुष कौ पूजन कीन्हों ॥
करे यज्ञ अति विशद भूमि कश्यप कूँ दीन्हीं ।
करि अवभृत अस्नान प्रतिज्ञा पूरी कीन्हीं ॥
त्यागि रोष अति शान्त ह्वै भूमि द्विजनि कूँ सौंपि सब ।
पूजित प्राणिनि तैं भये, गिरि महेन्द्र पर बसहिँ अब ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन ! भगवान परशुरामजी मार-काट का परित्याग करके शान्त चित्त से अब तक भी महेन्द्र पर्वत पर विद्यमान हैं। वहाँ पर सिद्ध गन्धर्व और चारणगण उनका चरित-गान करते हैं। इस प्रकार विश्वात्मा विश्वेश्वर भगवान् श्रीहरि ने भृगुवंश मे अवतीर्ण होकर पृथ्वी के भार भूत समस्त राजाओं का अनेक बार वध किया।"

बलाबल करने वाला काल ही है। काल जिसके अनुकूल होता है, सभी परिस्थितियाँ उसके अनुकूल बन जाती हैं। जब काल प्रतिकूल होता है, तब अनुकूल भी प्रतिकूल हो जाते हैं। कार्यकाल बीतने पर वस्तु का महत्व भी चला जाता है। माघ में गंगा यमुना के मध्य की हाथ भर भूमि के लिये लोग लालायित रहते हैं, उसे प्राप्त करने के लिये प्रबल प्रयत्न करते हैं, बहुत सा व्यय करते हैं जहाँ माघ का मकर मेला समाप्त हुआ कि उधर कोई फिर ध्यान भी नहीं देता। जब तक कोई अधिकारी अधिकार के पद पर प्रतिष्ठित रहता है, तब तक उसका सभी बड़ा मान करते हैं, उसका स्वागत सत्कार करते हैं। जहाँ वह उस पद से पृथक हुआ कि फिर वहाँ उसकी कोई बात भी नहीं पूछता। प्रभाव सब समय एक सा नहीं रहता। इसीलिये विवेकी पुरुष प्रभाव देखकर किसी के बड़प्पन छोटेपन का निर्णय नहीं करते। बडप्पन में तो सदाचार ही प्रधान है। जिसके पास तपरूपी सम्पत्ति है, वह सब स्थानों में सर्वथा पूजनीय माना जाता है। इसीलिये ऋषि मुनि इन बाहरी तड़क भडक, स्वागत समारोह तथा प्रभाव की ओर ध्यान न देकर, तप में ही सदा चित्त लगाते हैं, त्याग तपस्या को ही उन्नति का मूलमन्त्र समझते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार कर के अब परशुरामजी इस क्रूर कार्य से निवृत्त हो गये। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किये, अपना सर्वस्व दान कर दिया। उन्होंने यज्ञ में जो ब्राह्मण होता का काम करते थे, उन्हें पूर्व दिशा का राज्य दे दिया, जो ब्रह्मा बने थे, उन्हें दक्षिण दिशा के देश दे दिये, अध्वर्यु के लिये पश्चिम के प्रदेश प्रदान कर दिये और उद्‌गाता के उत्तम उत्तर दिशा अर्पित की। अन्य जो ऋत्विज थे, उन्हें उपदिशायें दीं। उस यज्ञ के जो आचार्य भगवान् कश्यप थे, उन्हें

मध्य की भूमि देकर सबका अधिपति बना दिया अर्थात् कश्यप ही इस सम्पूर्ण भू-मण्डल के सम्राट-पद पर अभिषिक्त कर दिये गये। यज्ञ के जो उपद्रष्टा तथा अन्यान्य सदस्य थे, उन्हें भी आर्यावर्त तथा अन्यान्य देश दिये गये। इस प्रकार परशुरामजी ने सम्पूर्ण पृथ्वी को ब्राह्मणों में बाँट दिया। सम्पूर्ण पृथ्वी का दान करके परशुरामजी ने विधिवत् यज्ञान्त अवभृत-स्नान किया। वे ब्रह्म नदी सरस्वती में सर्वस्व दान करने के अनन्तर यज्ञान्त स्नान करके मेघ के आवरण से हीन सूर्य के समान सुशोभित हुए। पुनः परशुरामजी से पूजित उनके परम पूजनीय पिताजी भी दिव्य संकल्पमय शरीर धारण करके सप्तर्षियों के मडल मे जाकर विराजमान हुए।

कश्यपजी ने सोचा—"यह ब्राह्मण परशु लिये हुए पृथ्वी पर निवास करेगा, तो न जाने कब किस पर क्रुद्ध हो उठे। जब जिस पर क्रोध करेगा, तब उसी का सहार कर डालेगा। अतः अब इसे पृथ्वी पर रहना नहीं चाहिये। यह सोचकर वे परशुरामजी से बोले—"राम! तुमने समस्त पृथ्वी मुझे प्रदान कर दी है। अब मैं इस वन, कानन, दुर्ग गिरि तथा नगरी-सहित पृथ्वी का स्वामी हूँ। अतः मैं हाथ में यज्ञीय श्रुवा उठाकर तुमको आज्ञा देता हूँ—"तुम मेरी पृथ्वी पर मत रहो। दक्षिण सागर के तट पर चले जाओ। वहाँ समुद्र से अपने रहने का स्थान माँगो।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इन महापुरुषों के त्याग को धन्य है! जो लोग बीघा भर जमीन के स्वामी हो जाते हैं, वे ही अभिमान में भरकर अपने को न जाने क्या समझते हैं और बडे गर्व से कहते हैं—"हम भूमिपति हैं।" उसी सप्त द्वीपवर्ती पृथ्वी के एकछत्र स्वामी होकर भी परशुरामजी ने उसे तृण के समान त्याग दिया, कश्यपजी को दान मे दे दिया और उनकी

आज्ञा से एक क्षण भी उनके राज्य में नहीं रहे। कश्यपजी की प्रदक्षिणा करके वे दक्षिण समुद्र के समीप पहुँचे। समुद्र ने उन का स्वागत किया और उनके लिये भूमि छोड़ दी, जो शूर्परिक (बीजापुर प्रान्त मे सूपल्य) देश से विख्यात हुआ। अब तक वे महेन्द्र पर्वत पर रहकर घोर तपस्या करते हैं। तब से उन्होंने फिर लड़ना भिड़ना त्याग ही दिया। कश्यपजी को भूमि देने के अनन्तर उन्होने दो बार और शस्त्र उठाये—एक बार तो शिव-धनुष भंग होने पर कौशल्यानन्दवर्द्धन श्रीराम की परीक्षा के निमित्त, जिसमें उन्हें नीचा देखना पड़ा और दूसरी बार भीष्म का विवाह कराने के निमित्त। इसमें भी उनकी एक प्रकार पराजय ही हुई, कारण कि अब उनका कार्यकाल रहा नहीं। इन प्रसंगों का यथा-समय वर्णन हो ही चुका है। इस प्रकार ब्राह्मणों को पृथ्वी का स्वामी बनाकर परशुरामजी अब तक महेन्द्र पर्वत पर घोर तप कर रहे हैं। ये भगवान् के आवेशावतार थे। ऋषि के शरीर मे भगवान् का आवेश आया था उसी आवेश मे आकर उन्होंने अकेले ही समस्त पृथ्वी के क्षत्रियों का संहार किया। जब वह आवेश समाप्त हो गया, तब फिर वे ऋषि के-ऋषि ही रह गये। ऋषिरूप में वे तप करते हैं। आगामी मन्वन्तर में जब ये सप्तर्षि बदल कर दूसरे नये सप्तर्षि चुने जायँगे, तब उनमे ये जमदग्नि-नन्दन भगवान् परशुरामजी भी एक होंगे। ये वेद का प्रचार करेंगे। प्रत्येक मन्वन्तर मे मनु, इन्द्र, प्रजापति, देवगण, मनुपुत्र, मन्वन्तरा-वतार तथा सप्तर्षि बदलते रहते हैं। जैसे इस वैवस्वत मन्वन्तर में विश्वामित्र, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप, अत्रि, भरद्वाज और गौतम—ये सप्तर्षि हैं; वैसे आगामी सावर्णि मन्वन्तर होगा। उस में प्रह्लादजी के पौत्र महाराज बलि इन्द्र होंगे और गालव, दीप्ति-

मान, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यशृङ्ग, बादरायण व्यास और परशुराम—ये सब सप्तर्षि होंगे। ये सब के सब अपने अपने आश्रमों में गुप्त रीति से स्थित है। किसी किसी भाग्यशाली को इनके दर्शन भी होते हैं। धर्मराज युधिष्ठर को महेन्द्रपर्वत पर परशुरामजी ने दर्शन दिये थे। अब भी बहुत से भाग्यशालियों को उनके दर्शन हो ही जाते हैं। यह मैंने अत्यन्त सक्षेप मे भगवान् के अशावतार श्री परशुरामजी का चरित कहा। अब आप मुझसे और क्या सुनना चाहते हैं ?"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! हमे बडा कुतूहल हो रहा है कि जब परशुरामजी ने सब क्षत्रियो को मार डाला, तब फिर इतने क्षत्रिय कहाँ स आ गये। ब्राह्मणा ने पुन पृथ्वी क्षत्रियों को क्यो लौटा दी ? जितने दिन ब्राह्मण राजा रहे, उन्होने कैसा राज्य किया ?"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाराज! जिस वस्तु के प्रति मनुष्यो का स्वाभाविक आकर्षण नही होता, उसकी रक्षा करने म रस नहीं आता। बिना मन के जेसा कार्य होता हे, उसे आप जानते ही हें। इन ब्राह्मणों ने कभी धन और भूमि को महत्व दिया ही नहीं। जन्म से ही इनके सस्कार त्याग की ओर होते हें। कलियुग को छोडकर सभा युगो मे राजा क्षत्रिय ही होते हैं। उन्ह ही राज्य करने की योग्यता होती ह। कलियुग म ता कपट का व्यवहार रह जाता हे। इसमें तो जो बली हो, धूर्त हो, वही राजा बन बैठता हे। ब्राह्मण तपस्या कर सकते हैं, कथा बाच सकते हैं। धर्म और न्यायपूर्वक सब को यथोचित दड देते हुए शासन करना उनके लिये कठिन हे। वे मत्रणा कर सकते हैं, सुयोग्य मत्री बन सकते हैं, किन्तु शासक नहीं।

परशुरामजी ने तो बहुत चाहा कि राजसत्ता ब्राह्मणों के ही

हाथ में रहे, ये ही छत्र-चँवर लगाकर राजा बन जायें। किन्तु जब इतने वीर पराक्रमी होकर वे स्वयं ही शासक न बन सके, राज्य को तृण-समान त्यागकर उसे कश्यपजी को सौंप कर तपस्या करने चले गये, तब दूसरों से वे कैसे शासन करने की आशा कर सकते हैं, जो उनसे से भी अधिक शांत-दांत और तितिक्षु हैं। कश्यपजी भी दूसरे ब्राह्मणों को राज्य देकर तप करने चले गये। अब ब्राह्मणों की दशा तो आप जानते ही हैं। इन्होंने कड़ा बोलना तक तो सीखा नहीं। किसी पर क्रोध आ भी जाय, तो शाप आदि देकर उसे तत्क्षण शांत कर लेते हैं। राज-काज में तो सब कुछ करना पड़ता है। यह इनके वश का नहीं!

कश्यपजी ने राज्य ले तो लिया, किन्तु अब, इस खटपट में पड़े कौन! उन्होंने कुछ ब्राह्मणों को बुलाकर सब पृथ्वी बाँट दी। जैसा धन होता है, वैसे ही वह व्यय होता है। परिश्रम की कमाई शुभ काम में लगती है। वैसे ही वह घर बैठे आ जाय पड़ी हुई मिल जाय तो वैसे ही चली भी जायगी। कश्यप जी ने कुछ लड़कर श्रम करके तो पृथ्वी ली ही नहीं थी, जो उसमें उनका अनुराग हो। सङ्कल्प छुड़ाने से ही पृथ्वी उन्हें मिली थी, उन्होंने दूसरे ब्राह्मणों को सङ्कल्प कर दी और स्वयं तपस्या करने वन को चले गये।

उग्र शासक न रहने से वैश्य, शूद्र तथा अन्य लोग भी सबल बन गये। उन्होंने ब्राह्मणों पर ही शासन करना आरम्भ कर दिया। कोई किसी की बात मानता ही नहीं था। यहाँ तक कि वैश्य शूद्र ब्राह्मणियों के साथ व्यभिचार करने लगे। सर्वत्र अराजकता छा गई। पृथ्वी ने सोचा—"जब मेरा कोई रक्षक ही नहीं, तब मैं रसातल को क्यों न चली जाऊँ?" यह बात कश्यप

को चिंतित हुई। वे दौड़े-दौड़े आये और पृथ्वी से कहा—"तू रसातल क्यों जाना चाहती है?" रोकर पृथ्वी ने कहा—"रसातल न जाऊँ, तो यहाँ मैं अपनी दुर्गति कराऊँ! तुम तो वन में जाकर समाधि में बैठ गये। ऐसे कहीं पृथ्वी का पालन होता है? मुझे तो पत्नी की भाँति, जो निरन्तर सावधानी से पालेगा, उसके सहारे में रह सकती हूँ। तुमने दान में मुझे ले तो लिया, किन्तु मेरा पालन करते नहीं।"

कश्यपजी को अपनी भूल अब मालूम हुई। जैसे तैसे रूठी हुई पृथ्वी को उन्होंने मनाया। उसे अपने ऊरू में छिपाया। तभी से पृथ्वी का नाम उर्वी पड़ा। इसका साराश यह हुआ कि उन्होंने विशुद्ध वंश की क्षत्राणियों में अपने वीर्य से पराक्रमी क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न किये। अब उन्होंने पृथ्वी से पूछा—"पुराने क्षत्रिय हैं भी?"

पृथ्वी हँस पड़ी और बोली—"मैं कभी किसी का बीज नाश नहीं होने देती (कहीं न कहीं छिपा ही लेती हूँ) आप चारों ओर घूम घूमकर पता लगावें, बहुत से छिपे हुए क्षत्रिय मिलेंगे। बहुत से जंगलों में हैं, बहुत से दूसरी जाति के लोगों में वर्ण बदल कर रह रहे हैं।"

कश्यपजी ने खोज की, तो सहस्रार्जुन के पाँच पुत्र छिपे हुए मिल गये। उनको उन्होंने पुनः राजा बना दिया। विन्ध्य गिरि माला के पूर्वीय भाग ऋक्षवान् पर्वत पर उन्हें पुरुवंशीय महाराज विदूरथ की रानी मिली। वह रीछों के बीच रहकर अपने बच्चे को छिपाकर रक्षा करती थी। कश्यपजी उन्हें ले आये और उनका नाम ऋक्षवान् रखकर उसे पुनः पुरुवंश का राजा बना दिया।

भगवान् पराशर के आश्रम पर उन्होंने एक तेजस्वी सेवक

देखा। वह ऊँच नीच सभी काम करता था। इसलिये लोग उसे सर्वकर्मा कहते थे। कश्यपजी समझ गये कि यह भी कोई क्षत्रिय है शूद्र वेष मे अपने दिन काट रहा है। पता लगाने से विदित हुआ कि यह महाराज सौदास का पुत्र है। उसे भी उन्होंने राजा बना दिया। ढूँढते-ढूँढते वे गोपों की बस्ती में पहुँचे। वहाँ भी उन्हें एक बड़ा तेजस्वी यशस्वी पुरुष दिखाई दिया। यद्यपि गोपों ने ही उसे पाल पोसकर बड़ा किया था, किन्तु वह गोप-जाति से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता था। कश्यपजी ने गोपों से छानबीन की। पता चला कि यह महाराजा शिवि का गोपति नामक पुत्र है। कश्यपजी ने उसे भी राजा बना दिया। गंगा तट गोमती जी के आश्रम पर दिविरथ के पुत्र छिपे हुए मिले। गृद्धकूट पर्वत पर महाराज बृहद्रथ मिले, जो लगूरों में रहते थे। बहुत से राजकुमार समुद्र के तटों पर छिपे हुए मिले। बहुत से सुनारों अहारों के यहाँ छिपकर रहते थे। कश्यपजी को जहाँ विशुद्ध वंश के क्षत्रियों का पता लगा, उन सब को वे ले आये। विशुद्ध वंश की क्षत्राणियों में धर्मपूर्वक उन्होंने भी संताने उत्पन्न कीं। वे कश्यपगोत्रीय क्षत्रिय परम पराक्रमी हुए। उन सब ने इस पृथ्वी का धर्मपूर्वक पालन किया। कई राजा स्त्रियों का कवच बना कर उनके भीतर छिप गये थे। अब वे सब पुनः प्रकट हुए। कुछ ही काल में क्षत्रियों के पुनः विशुद्ध वंश स्थापित हो गये और वे ब्राह्मणों की आज्ञा से धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करने लगे। इससे सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य हो गया। पृथ्वी पर पुनः क्षत्रिय वंश प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ। यह सब भगवान कश्यपजी की कृपा है। इस प्रकार भगवान् ने परशुराम रूप से अवतरित होकर क्षत्रियों के भार से दबी पृथ्वी का उनके अन्यायों से उद्धार किया।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप ने बताया था, कि महाराज गाधि की पुत्री सत्यवती ने अपनी माता के कहने से चरु बदल लिया था। इसीलिये उसके पौत्र परशुरामजी ऐसे क्रूरकर्मा और ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय भावापन्न हुए। अब हम यह सुनाना चाहते हैं कि सत्यवती का वह ब्रह्मतेज-सम्पन्न चरु गाधि की पत्नी सत्यवती की माता ने श्रेष्ठ समझकर खा लिया था, तो उसके गर्भ से कैसा पुत्र हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! यही तो मैं अब सुनाने वाला था। उन्हीं गाधि-पत्नी के गर्भ से सप्तर्षियों में परम पूजित महर्षि विश्वामित्रजी हुए, जो क्षत्रिय माता पिता से उत्पन्न होकर भी ब्राह्मण बन गये। अब मैं आप को उन्हीं भगवान् विश्वामित्र के चरित को सुनाता हूँ। आप श्रद्धापूर्वक, शान्ति के साथ, इस प्रसंग को श्रवण करें।"

छप्पय

जब जस निरखे समय रूप तब तस हरि धारैं।
साधुन रक्षा करहिँ नीच-खल-दुष्टनि मारैं॥
करन धरम-उत्थान सदा प्रकटैं जग माहीं।
ऊँच-नीच व्यौहार जगत को उन महँ नाहीं॥
क्षत्राग्निनि के उदर तैं, प्रकटे सुर-रिपु अवनि पै॥
राम परशु तैं ते हने, करी कृपा सुर-नरनि पै॥

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद् भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद् भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवत चरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६)५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ८) हैं। दूसरा खड प्रेस में है।